ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 26 | अंक 04-05 विक्रम संवत् 2077-78 अप्रेल-मई 2022 | पृष्ठ 34

संरक्षक : विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

नवसम्वत्सर

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

(जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Narayan

ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 26 | अंक 04-05 विक्रम संवत् 2077-78 अप्रेल-मई 2022 | पृष्ठ 34

परामर्शदाता
देवर्षि कलानाथ शास्त्री
पण्डित अनन्त शर्मा
डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर
प्रो. कैलाश चतुर्वेदी
डॉ. शीला डागा
प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार

प्रधान सम्पादक
सोहन लाल गर्ग

सम्पादक
डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

सह-सम्पादक
डॉ. रामदेव साहू
डॉ. रघुवीर प्रसाद शर्मा
तिबोर कोकेनी
श्रीमती अन्या वुकादिन

सहयोग
नवीन जोशी
आनन्द शर्मा

- प्रमुख संरक्षक -
परम महासिद्ध अवतार श्री अलखपुरी जी
परम योगेश्वर स्वामी श्री देवपुरी जी

- प्रेरणास्त्रोत -
भगवान् श्री दीपनारायण महाप्रभुजी

- संस्थापक -
विक्रम संवत् २०७५ परमहंस स्वामी श्री माधवानन्द जी

- संरक्षक -
विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस
श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

- प्रबन्ध सम्पादक -
महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान
(जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)
कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in | **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram | **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org

Sponsored by : **DEVESHWAR DEEP IMPEX PVT. LTD.**, JAIPUR

अनुक्रमणिका

1.	सम्पादकीय	डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा	3
2.	नवसम्वत्सर	आचार्य माधव शास्त्री	4
3.	संवत्सर - वर्ष की वैज्ञानिकता	प्रो. कैलाश चतुर्वेदी	7
3.	संवत्सरस्य वैज्ञानिकं विश्लेषणम्	डॉ. रामदेव साहू	10
4	नल संवत्सर	डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा	13
5.	ऐतिहासिक परम्परा में आद्य शङ्कराचार्य का काल	पं. अनन्त शर्मा	19
6.	YOGA SUTRAS OF PATANJALI	Swami Maheshwaranandapuri	33
7.	वैदिक सृष्टि विज्ञान-1	प्रो. कैलाश चतुर्वेदी	38
8.	ऋतुचक्र की वैज्ञानिकता	डॉ. रामदेव साहू	45
9.	राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्	डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर	51

विश्वदीप दिव्य संदेश पत्रिका का वार्षिक सदस्यता शुल्क **800/- रूपये**

खाता संख्या : 5013053111

IFS Code : KKBK0003541

मुद्रण : **कन्ट्रोल पी**, जयपुर - मो. : 9549666600

सम्पादकीय

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित मासिक शोधपत्रिका का वर्ष 2022 का संयुक्त (चतुर्थ-पंचम) अंक आपके करकमलों में अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। भारतीय धर्म-संस्कृति के शोधलेखों का यह संग्रह विद्वानों द्वारा सराहा जा रहा है। विद्वानों द्वारा नियमित भेजे जा रहे शोधलेख हमारा मनोबल बढ़ा रहे हैं व पत्रिका के महत्त्व को भी आलोकित कर रहे हैं। पूर्व अंकों में सभी उच्चस्तरीय विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए हैं।

इस संयुक्तांक में सर्वप्रथम आचार्य माधव शास्त्री लिखित 'नवसंवत्सर' लेख में युगारम्भ की सूक्ष्म काल गणना सहित संवत्सराम्भ विषयक जानकारी प्रदान की गयी है। तत्पश्चात् प्रो. कैलाश चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'संवत्सर-वर्ष की वैज्ञानिकता' लेख में संवत्सर एवं वर्षमान के वैज्ञानिक मानकों का औचित्य दर्शाते हुए संवत्सर की महत्ता को उपस्थापित किया गया है। इसी क्रम में डॉ. रामदेव साहू द्वारा लिखित 'संवत्सरस्य वैज्ञानिकं विश्लेषणम्' शोधालेख में वेद विज्ञान में प्रतिपादित संवत्सर के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा द्वारा लिखित 'नल संवत्सर' शोध लेख में पौराणिक संदर्भों के आधार पर बल की महत्ता एवं संवत्सर के नामकरण के औचित्य को व्यक्त किया गया है। पं. अनन्त शर्मा द्वारा लिखित 'ऐतिहासिक परंपरा में आदि शंकराचार्य का काल' शोध लेख आदिशंकराचार्य के कालनिर्णय को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करता है जो इतिहासज्ञों के लिए विचारणीय है। इसके पश्चात् ..... द्वारा लिखित ..... शोध लेख में पातंजलयोगसूत्र के प्रतिपाद्य की आधुनिक सन्दर्भ में उपयोगिता दर्शायी गयी है। तत्पश्चात् प्रो. कैलाश चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'वैदिकसृष्टिविज्ञान' शोध लेख में सृष्टि उत्पत्ति विषयक वैदिक अवधारणा का सरलतम प्रस्तुतीकरण हुआ है। इसके पश्चात डॉ. रामदेव साहू द्वारा लिखित 'ऋतुचक्र की वैज्ञानिकता' शीर्ष शोध लेख में ऋतुओं की उत्पत्ति एवं कालगणना व ऋतुचक्र के प्रवर्त्तन का विषय वेदविज्ञान के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। अन्त में डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर के 'राष्ट्रोपनिषत् प्रस्तावनाशतकम्' के कतिपय पद्य प्रकाशित किये गये हैं, जो गुरुशिष्यपरम्परा के गौरव को प्रदर्शित करने के साथ साथ आत्मचिन्तन की प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं।

आशा है, सुधी पाठक इन्हें रुचिपूर्वक हृदयंगम करने में अपना उत्साह पूर्ववत् बनाये रखेंगे।

शुभकामनाओं सहित....

-डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

नवसम्वत्सर

आचार्य माधव शास्त्री
सोजत

तिथियाँ अनेकानेक होती हैं, जिनमें कल्पादि तिथि और युगादि तिथि शास्त्रगत मानी गई हैं। कल्प के आरंभ तिथि चैत्र मास शुक्ल पक्ष के सूर्योदय से मानी गई है। उसी प्रकार युगादि तिथियाँ चार होती हैं, क्योंकि युग भी चार होते हैं।

1. **सत्ययुग** - कार्तिक शुक्ल पक्ष नवमी,बुधवार,श्रवण नक्षत्र, वृद्धि योग तथा प्रथम प्रहर से सत्ययुग प्रवेश करता है।

2. **त्रेतायुग** – वैशाख शुक्ल पक्ष तृतीया, सोमवार, रोहिणी नक्षत्र,शोभन योग और दूसरे प्रहर से त्रेतायुग प्रवेश करता है।

3. **द्वापर युग** – माघ मास कृष्ण पक्ष अमावस्या, शुक्रवार, धनिष्ठा नक्षत्र, वरीयान् योग और तृतीय प्रहर से द्वापर प्रवेश करता है।

4. **कलियुग** – भाद्रपद मास कृष्ण पक्ष त्रयोदशी तिथि, रविवार,अश्लेषा नक्षत्र,व्यतिपात योग और अर्द्ध रात्रि से कलि प्रवेश करता है।

ये चार तिथियाँ युगादि तिथि हैं।सम्वत्सर सूर्य गति से होता है परिवत्सर, इडावत्सर, इदवत्सर और वत्सर चन्द्र और बृहस्पति की गति से जाने जाते हैं। साथ ही ईस्वी सन्, विक्रम संवत्, शक संवत् आदि सूर्य की किरणों व गति के आधार पर होते हैं और हिजरी सम्वत् चन्द्र की गति से माने जाते हैं। इनसे भी प्राचीन युधिष्ठिर सम्वत है, जिसे युधिष्ठिर के राज्याभिषेक से मानते हैं। इससे भी पुरातन वैदिक ज्योतिष के अनुसार सप्तर्षि सम्वत होता है जो ध्रुव तथा सप्तर्षियों का सम्बन्ध नक्षत्र मण्डलों के योग से जानते हैं, जिसका एक परिक्रमण 2700वर्ष का होता है, तत्पश्चात् परमेष्ठि का योग ध्रुव तथा सप्तर्षियों के परिभ्रमण से नियंत्रित किया जा सकता है। इसको संसार कहा गया है, यह समय निरन्तर गतिशील है। मनुष्य का जीवन बहुत ही कम है, अतः धर्म को न छोड़ें। धर्मो रक्षति रक्षितः, धर्मो एव हतो हन्ति च संरक्षित धर्म रक्षा करता है और असुरक्षित धर्म सुरक्षित नहीं रखता।

संवत्सर – वर्ष की वैज्ञानिकता

प्रो. कैलाश चतुर्वेदी
पूर्व निदेशक, संस्कृत शिक्षा विभाग
जयपुर, राजस्थान

सारा विश्व आज ग्रेगेरियन कैलेंडर के अनुसार 'अंग्रेजी वर्ष (जनवरी -दिसंबर) को मान रहा है, जो मानवीय अवधारणा पर आधारित है, जबकि इससे 57 वर्ष पुराना 'विक्रम-सम्वत्' पूर्णतः सृष्टि -रचना वैज्ञानिक आधार पर निर्मित है. कैसे? समझिये ! अदृश्य -परमात्मा ने स्वेच्छा से सृष्टि -निर्माण हेतु 'यजन' किया , जिसके दो मूल तत्त्व थे- यत् + जू (सोम + अग्नि), जो उसके द्वारा रचित प्रकृति के गर्भ में सदैव विद्यमान रहते हैं, इसीलिए कहा गया है- 'अग्नीषोमात्मकं -जगत्'। इसे ही प्रकारांतर से परब्रह्म का अन्तर्याम एवं बहिर्याम (स्वर्लोक एवं सृष्टि) भी कहा जाता है। परमात्मा का स्वलोक और उसके द्वारा निर्मित पंचपर्वा सृष्टि सभी वर्तुलाकार है-इसलिए स्वयंभू-परमेष्ठी-सूर्य-पृथ्वी -चन्द्रमा सभी गोल हैं। अपने अदृश्यमान लोक के तीन चौथाई भाग में उसका निजी साम्राज्य है और एक-चौथाई में उसने सारे सृष्टि-प्रपंच को रचा है। जैसा कि ऋग्वेद के मंत्रो से स्पष्ट है-

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं,
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।
एतावानस्य महिमातो ज्यायॉश्च पूरुषः ,
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि[1]**।।**

लगभग 2080 वर्ष पूर्व सृष्टि-रचना की इसी अवधारणा के आधार पर 'भारतीय संवत्सर' का निर्धारण चक्रवर्ती सम्राट् भोज की सभा के 'विद्वान् -ज्योतिषियों' ने किया। उन्होंने पाया कि प्रकृति में सोम की अग्नि में आहुति का चार अवस्थाओं में परिपाक होता है और उसके बाद नव-सृष्टि का निर्माण होता है। प्रथम परिपाक जिस समय दृष्टिगत हुआ, वहीं से उन्होंने नव-सम्वत्सर का प्रारम्भ माना[2], और पदार्थों का चैतन्य मान कर 'चैत्र' नाम से सम्वत्सर

का प्रारम्भ निर्धारित किया, आज भी हम देखते हैं, कि अधिकाँश फलों-पुष्पों का परिपाक चैत्र मास में ही पाया जाता है (यही हमारी वसंत ऋतु है। द्वितीयावस्था वह आती है, जब सोम का अग्नि में पूर्ण रूप से पाक हो जाता है, तब अग्नि का रूप तेज़ होने के कारण वह दाहक बन जाती है, यही ग्रीष्मावस्था है। ज्यों -ज्यों पूर्ण-परिपाक होने पर अग्नि-सोम शीतलता और तरलता की ओर बढ़ते हैं,वर्षा का प्रवेश हो जाता है और अंत में संवत्सराग्नि शांत होकर शीतल बन जाती है, बस यही हमारी शीत ऋतु है। वर्तुलाकार होने से सारा संवत्सर 360 अंशों में बँटा है, इसलिए 'अग्नीषोमात्मक -संवत्सर भी 360 दिन का ही गिना गया है[3]।

मेरे प्रिय 110 करोड़ हिन्दू भाई-बहिनो ! इसलिए अपनी बिसरायी हुई निधि को पहचानो। यह कैसी विडंबना है कि गुड़ खाते हो (जन्म-परन-मरण - विवाहादि षोडश-संस्कार सब तिथि/माह और ज्योतिषी की सलाह के अनुसार करते हो) और गुढाणी (अपने सम्वत्) से परहेज ?

जागिये,और पूरे उत्साह के साथ नव संवत्सर 2079 का स्वागत करते हुए चैत्र-नवरात्र में शक्ति-प्रदायिनी माँ-दुर्गा का घर-घर आवाहन कीजिये।

हे परमात्मन्! आप भी इस नवसम्वत् 2079 में श्रांत-भ्रांत-क्लांत 110 करोड़ हिन्दुओं को भक्ति- शक्ति-सम्पन्नता से परिपूर्ण कीजिये।

सन्दर्भ :

1. ऋग्वेद - 10/90/2, 3
2. ज्योतिश्चक्रम् (पं. मधुसूदन ओझा)
3. ज्योतिषवेदांग - एक अनुशीलन / पृ. 11

संवत्सरस्य वैज्ञानिकं विश्लेषणम्

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (वेदविज्ञान)
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

प्रजापतिर्वै संवत्सरः[1]। अयं हि ब्रह्मावच्छिन्नो भवति। एवं च ब्रह्माभिन्नो वक्तव्यः। प्रजापतिरेव सन्तायमानस्य सन्तानभूता इमे वेदा अभवन्[2]। तथा च मनःप्राणाभ्यां कृतोदरा वागेवैते त्रयो वेदाः। एवञ्चायं वेदाभिन्नोऽपि मन्तव्यः। अस्य प्रजापतेर्दश व्यूहाः संप्रोक्ताः[3]। तत्र इन्द्र इति प्रथमो व्यूहः। अयमनिरुक्तोऽनन्यप्रजापति[4]रित्यनया संज्ञया व्यवह्रियते। अस्य स्थानं हृदयमस्ति। चितेनेधेयाग्निरिति द्वितीयो व्यूहः[5]। अयममृताग्निरूपो देवग्रामः। अस्य स्थानं प्राणाः। चित्याग्निरिति तृतीयो व्यूहः[6]। अयं मर्त्यरूपो भूतग्रामः। अस्य स्थानं शरीरम्। पाशुकाग्निरिति चतुर्थो व्यूहः[7]। अयं पोषा पशुग्रामः। अस्य स्थानं प्राणिवर्गः। त्रयीति पञ्चमो व्यूहः। अयं वेदस्वरूपः यज्ञस्वरूपो वा। अस्य स्थानं सहस्रम्। सहस्रशब्दोऽत्र विशिष्टो विज्ञातव्यश्च। तदुच्यते तैत्तिरीयब्राह्मणे यदुक्तम् - अग्निर्न्यवर्तयत स साहस्रमपुष्यदिति तदनुसारं सृष्टिबीजपिण्डस्य शिपिविष्टाख्यस्य विष्कम्भः सहस्रप्रगुणितो यावदवकाशे प्रथमानो ध्रियते तावदवकाशा इमे वेदा इत्यतः सहस्रं नाम[8]। उक्तञ्च ऋग्वेदे - 'सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्। सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्[9]' इति। अथर्वेति षष्ठो व्यूहः[10]। अयं हि तुरीयवेदरूपः। अस्य स्थानं सहस्रमण्डलान्तं परिधिः। छन्द इति सप्तमो व्यूहः[11]। इदं हि छन्दश्चातुर्विध्यम् आत्मनश्छादितत्वात्। अस्य स्थानं छन्दोवृत्तानि। विराड् इत्यष्टमो व्यूहः[12]। अयं हि मर्त्यान्तःप्रतिष्ठितः यज्ञाधिष्ठानो वा। अस्य स्थानम् महद् उक्थम्[13]। शिपिविष्ट[14] इति नवमो व्यूहः। अयं हि पश्वन्तः प्रतिष्ठितः यज्ञाधिष्ठानो वा। अस्य स्थानम् गूळ्हं । संवत्सर इति दशमो व्यूहः[14]। अयं हि सहस्रान्तोऽथर्वान्तो वा। अस्य स्थानं साम सर्वत्रसंस्थितमिति।

अस्य संवत्सरप्रजापतेरुत्पत्तिरेवमाख्याता वाजिश्रुतौ -

'आपो ह वा इदमग्र सलिलमेवासत अकामयन्त - कथं नु प्रजायेम हीति। ता अश्राम्यत्। तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं सम्बभूव। अजातो ह तर्हि संवत्सर आस। तदिदं हिण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः। स इदं हिण्मयमाण्डं व्यरुजत्। न हि तर्हि काचन प्रतिष्ठा

आस। तदेतमिदमेव हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेलाऽऽसीत् तावद् बिभ्रत् पर्य्यप्लवत। सः संवत्सरे व्याजिहीर्षत्। स भूरिति व्याहरत्। सेयं पृथिव्यभवत्। भुव इति तदन्तरिक्षमभवत्। स्वरिति साऽसौ द्यौरभवत्। स एवेमान् लोकान् जातान् संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत्। स सहस्रायुर्जज्ञे। सोऽर्चञ्छाम्यॅश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्नेव प्रजापतिमधत्त। स आस्येनैव देवानसृजत्। ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै स सृजानाय दिवे वास। तदहरकुरुत।

अथ योऽयमवाङ्प्राणस्तेनासुरानसृजत। त इमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै स सृजानाय तम इवास। तां रात्रिमकुरुत। ते अहोरात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति। स सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतद् यत् संवत्सर इति। स ऐक्षत - इमे वा आत्मनः प्रतिभामसृक्षि यत्संवत्सरमिति तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इति।[16]'

संवत्सरप्रजापतेः सृष्ट्युत्पादने निर्वासनं मुख्यं प्रयोजनमासीत्। यथोक्तं तैत्तिरीयसंहितायाम्-

'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्। तेन स परमां काष्ठामगच्छत्। तेन प्रजापतिं निरवासयत्। तेन प्रजापतिः परमां काष्ठामगच्छत्। तेन इन्द्रं निरवासयत्। तेनेन्द्रः परमां काष्ठामगच्छत्। तेनाग्नीषोमौ निरवासयत्। तेनाग्नीषोमौ परमां काष्ठामगच्छताम्।[17]'

'संवत्सर शब्देऽपि ' त्सरि धातुः प्रयुक्ताऽस्ति। वैदिकमते निर्वासनेऽभिचरणे च त्सरि धातुः प्रयुज्यते। लोके 'त्सर छद्मगतौ' इति सुप्रसिद्धैव समित्युपसर्गः। वकारो वाग्बोधकः। तथा हि वाच एव छद्मगतिः। तद्विषये प्रोक्तम्-

'प्रच्छन्ना गतिःत्सरः। यथा मृगयुर्गच्छति। यथा वा शशः शुने व्यापादकायात्मानं गोपायित्वा दूरमपसरति, तथा प्रजापतेः रसाः प्रच्छन्नं बहिर्धा गताः, संवत्सर इन्द्रवाचं परितोऽग्निरन्नादः। तं परितः सोमोऽन्नम्। सर्वमभिव्याप्यैतदापः प्रचरन्ति। परोवरीणः प्राणो वायुरिन्द्राख्यः पर्यन्तमभिव्याप्नोति।[18]'

अनेन पर्यन्तव्यापिनी वायुप्रच्छन्ना प्राणान्यतरस्वरूपा वागेव वकारेणोपलक्षिता। सा चाद्या वाक् यावत्पर्यन्तं गता तस्याः कालावधिरेव 'संवत्सर' शब्देनाभिहितः। किन्त्वेष संवत्सरः कस्यासीत्। कस्यायं वाऽऽयत्त इति चेदुच्यते संवत्सरारम्भतोऽन्तं यावत् पञ्चाधिदेवता असृज्यन्त-अग्निः इन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यश्च[19]। एते पञ्चैव लोकानामधिष्ठातारः। तथा हि अग्निः पृथिवीलोकस्य, इन्द्रो वायुरन्तरिक्षलोकस्य, सोमोऽमृतं स्वर्लोकस्य, परमेष्ठी नक्षत्रलोकस्य, प्राजापत्याश्च नाकलोकस्याधिष्ठातारः सन्ति। एवञ्चेत् अधिष्ठातृभेदादेव संवत्सरभेदावुक्तौ।

एवञ्च संवत्सरः पञ्चधा - पार्थिव संवत्सरः, सौर संवत्सरः, चान्द्रसंवत्सरः नाक्षत्रसंवत्सर, प्रजापति संवत्सरश्चेति।

पार्थिवसंवत्सर :- पृथिव्या निर्गता रश्मयः ब्रह्माण्डे यावत् गच्छन्ति तावत्पर्यन्तिकगतिकालः पार्थिव संवत्सरो भवति। प्रायेण वैश्वानरवीथीं यावत् पृथिव्या रश्मयः प्रयान्ति, अतएव पृथिव्याः संवत्सरमण्डलं वैश्वानरवीथीं स्पृशति। पृथिव्या वायुमण्डलं त्यक्त्वा यदा तस्माद् बहिस्ता रश्मयः प्रयान्ति तदा सौररश्मीनाहत्य वैश्वानरं ता उत्पादयन्ति। सः वैश्वानर एव उपरि गत्वा वीथीं निर्माति। एषा वैश्वानरवीथी ग्रहनक्षत्रमण्डलयोः पृथक्करणं निर्दिशति। पार्थिव संवत्सरेऽहोरात्रमधिकृत्य कालगणना विधीयते। यतो हि पृथिव्यामेवाहोरात्रस्थितिर्भवति, नान्यत्र।

सौरसंवत्सरः - सूर्यरश्मयो ब्रह्माण्डे यावत् गच्छन्ति तावत्पर्यन्तिकगतिकालः सौरसंवत्सर इत्यभिधीयते। प्रायेण बृहतीपंक्तिवृत्तपर्यन्तं सूर्यरश्मयः प्रयान्ति। उक्तं च 'आदित्यो बृहतीमध्यूढस्तपति' इति। बृहतीवृत्तस्याधोभागे एव दृश्यपृथिवी संस्थिताऽस्ति। अस्या पृथिव्या यो भागः पंक्तिवृत्तमतिक्रम्य वर्तते तत्र सूर्यरश्मयो न भासन्ते। विशेषेण त्रिष्टुब्वृत्ते । एवं पंक्तिवृत्तपर्यन्तं सूर्यरश्मीणां गतिकालमधिकृत्य सौरसंवत्सरस्य कालगणना विधीयते। सौररश्मिषु गायत्राग्नि-सावित्राग्निभेदात् गतिभेदो दिग्भेदश्च भवतः तस्मात्सूर्यगतेरयनद्वयं सम्भवति उत्तरायणं दक्षिणायनं च। अस्य सौरसंवत्सरस्यारम्भ उत्तरायणान्मन्यते।

चान्द्रसंवत्सरः - चन्द्ररश्मयो ब्रह्माण्डे यावत् गच्छन्ति तावत्पर्यन्तिकगतिकालः चान्द्र संवत्सर उच्यते। चन्द्ररश्मयोऽपि सूर्यरश्मीव बृहतीपंक्तिवृत्तपर्यन्तं प्रयान्ति। चन्द्ररश्मय सोमप्रधाना भवन्ति। सोमस्य न्यूनाधिक्यादेव ऋतव उत्पद्यन्ते। पंक्तिवृत्तं यावत् पांक्तयज्ञस्य पञ्चपर्वाधारेण पञ्चर्त्तवो मन्यन्ते वैदिकाः। अस्य चान्द्रसंवत्सरस्यारम्भो वसन्तान्मन्यते। चैत्रवैशाखयोर्वसन्त इति ज्योतिःशास्त्रीयमान्यतानुसारं चैत्रमासाच्चान्द्र-संवत्सरारम्भः पृथिवीवासिनः स्वीकुर्वन्ति। तत्राप्यहोरात्राधारेणाहरित्यस्य प्राथम्येन शुक्लपक्षस्याद्यत्वं स्वीकुर्वाणा शुक्लजुग्रर्वेदीयसंहितापाठिनः चैत्रशुक्लपक्षादस्यारम्भं स्वीकुर्वन्ति। ये पुनः कृष्णपक्षान्मासारम्भं स्वीकुर्वाणा कृष्णयजुर्वेदसंहिताध्यायिनस्ते चैत्र कृष्णपक्षादेवास्यारम्भं स्वीकुर्वन्ति।

नाक्षत्रसंवत्सरः - अयं पारमेष्ठ्यसंवत्सर इत्यप्युच्यते। नक्षत्राणां परमेष्ठिनोऽधीनत्वात् परमेष्ठिमण्डलगतत्वाच्च। नक्षत्ररश्मयो ब्रह्माण्डे यावत् गच्छन्ति तावत्पर्यन्तिकगतिकालः नाक्षत्रसंवत्सरः पारमेष्ठ्यसंवत्सरो वाऽप्युच्यते। नक्षत्ररश्मीणां गतिरपि सूर्यचन्द्ररश्मिगतितुल्या। तस्मादासामपि गतिः तावद्दूरवर्त्तिन्येव मन्तव्या। नक्षत्ररश्मयः सोमाग्न्योः समांशमय्यो भवन्ति। तासां गतिश्चन्द्ररश्मीणां गतिमनुसरति। तस्मादेव चन्द्रमा

नक्षत्राणामधिपतिरुच्यते। नक्षत्राणि सप्ततिंशतिः सन्ति। तेष्वाद्यं नक्षत्रम् अश्विनी अस्तीति ज्योतिषशास्त्रेऽभिमतम्। अहस्करः सूर्यो यदा अश्विन्यां स्थिति करोति, तदा नाक्षत्र संवत्सरारम्भो मन्यते।

प्राजापत्य संवत्सरः - तपः लोक संस्थितः सविता प्रजापतिः। तस्य रश्मयस्त्रैलोक्यं प्रविश्य ब्रह्माण्डे यावत् गच्छन्ति तावत्पर्यन्तिकगतिकालः प्राजापत्यसंवत्सर इत्युच्यते। प्रायेण सवितृरश्मयो भूरादीन् सप्तोर्ध्वलोकान् व्याप्नुवन्ति, किन्तु त्रैलोक्ये प्रवेशानन्तरं ता अपि सूर्यरश्मिष्वेव समाहिताः सन्त्यः पंक्तिवृत्तपर्यन्तमेव प्रयान्ति। एवञ्च त्रैलोक्ये सूर्यरश्मिभिरासां गतिसाम्यमेवाकलितव्यम्। प्रजापतिः रोहिणीनक्षत्रस्याधिपतिरस्ति, अतः यदा सूर्यो रोहिणी नक्षत्रे गतिमारभते तस्मात्कालादेव अस्य प्राजापत्यसंवत्सरस्यारम्भो भवति।

नवसंवत्सरो नलसंवत्सरः

संवत्सरो वै प्रजापतिः। प्रजानां चराचराणां जीवानां पतिः रक्षकोऽयमस्ति। वासर-वत्सर-संवत्सर शब्दा अत्र विशेषेण बोध्याः। वासर इति अह्नो नाम। वा गतिगन्धनयोरिति धातोः क्विपि कृते 'वा' शब्दो वायुप्राणस्य वाचकः। यस्यारम्भे वायुप्राणः प्रवर्तते प्राणगर्भो वायुर्वा सरति गतिं करोति स वासरो भवति। एवमेव वद् धातोः क्विपि कृते 'वत्' शब्द प्राणगर्भायाः वाचो वाचकः। यस्यारम्भे प्राणगर्भा वाक् सरति गतिं करोति स वत्सरो भवति। इयं हि प्राणगर्भा वाक् यस्मिन् सम्यगवतिष्ठते सः संवत्सरः षष्ट्युत्तरशतत्रयसंख्याकानामह्नां समवायः।

अस्माकं ब्रह्माण्डं वर्तुलाकारमस्ति तच्च वृत्तधर्मत्वात् षष्ट्युत्तरशतत्रयांशेषु परिधौ विस्तारेणोभयत्र वर्गीकृतम्। अस्य मध्यस्थानीयः सूर्यः प्राणानामधिष्ठाता। इत एव प्राणाः सरन्ति परिधिं प्रति। तत्राशीत्युत्तरशतमिता अंशाः सूर्यात् पूर्वभागे सन्ति, किन्तु पृथिव्याः पश्चिमभागे स्थित्याः ततः चतुर्विंशति-चतुर्विंशत्यंशक्रमेण यानि छन्दोवृत्तानि परिगणितानि, तेषु बृहतीमारभ्य पंक्तिं यावत् स्थूला पृथिवी अस्ति, जगतीवृत्तं यावत् सूक्ष्मा पृथिवी अस्ति। बृहती वृत्त एव दृश्यपृथिवी अस्ति। अस्या दृश्यपृथिव्या आरम्भादन्तं यावत् क्षेत्रमेव वर्तमाने पृथिवी इति व्यवह्रियते। ब्रह्माण्डवृत्तस्य पूर्वपरिधेः पंक्तिवृत्तस्यान्तं यावत् शतत्रयमंशाः पूर्णा भवन्ति, तत्रैव प्रतिषडंशक्रमेण नलसंवत्सरोऽपि स्थितिं करोति। अयं चतुर्नवत्युत्तरशतद्वयमितांशेभ्य आरभ्य शतत्रयमितांशान् यावत् अवतिष्ठते। अस्य संवत्सरस्य नाम नरःनलःनडो वाऽस्ति। रलयोरभेदाद् डलयोरभेदाच्च नल इत्यस्यैव व्यवहारः। अत्रापि 'न रीयते' इति व्युत्पत्त्या अपः स्थानीयनरावस्थितेः समानान्तरसंस्थितेरयं नरः। 'न लीयते' इति व्युत्पत्त्या इतोऽग्रे सूर्योदयसूर्यास्तयो-

रभावान्नलोऽयमुच्यते। 'न डीयते' इति व्युत्पत्त्या इतोऽग्रवर्त्तिनाम् उत्क्रान्त्यभावान्नड इत्युच्यते। दृश्यपृथिव्याः उष्मान्तिमभागादारभ्य प्रकाशभागं यावदवस्थितेरयं नल एव प्राणगर्भाया वाचश्चरमत्वमावहति।

सन्दर्भ

1. शतपथब्राह्मणम् - 11/1/1/15

2. सोऽयं त्रय्यां विद्यायामथर्व विद्योत्तरायां ब्रह्मणि प्रतिष्ठितः प्रजापति ब्रह्मावच्छिन्नत्वाद् ब्रह्मोच्यते। आत्मना ब्रह्मणा सृष्टोऽयं वेदो ब्रह्म। वेदावच्छिन्नस्यैवात्मनः सर्वत्र स्वरूपाधानान्नायं वेदो ब्रह्मणो व्यतिरिच्यते (महर्षिकुलवैभवम्-पृ. 61)

3. दशविधात्वेऽपि प्राधान्यात् त्रैविध्यमेव नेयम् - नभ्य इन्द्रोऽनिरुक्तः प्रजापतिः, सा प्रतिष्ठाः, शिपिविष्टो विराट् प्रजापतिः तदुक्थम्। सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः संवत्सरः प्रजापतिः तत्साम इत्थमेतं त्रिवृत्कृतमात्मानं विद्यात् (महर्षिकुलवैभवम्-पृ. 63)

4. एकविंशतितमे स्तोमे विद्यमान ऐन्द्रवैद्युत् एव नभ्यप्रजापतिरित्युच्यते। उक्तं च ऐन्द्रः प्राजापत्यः स्वर्गोऽयं सूर्यपिण्डो यः। नभ्यो वैद्युत् पुरुषो गमयत्यात्मानमानन्दम्।।

अपि च, प्रजापतिः सप्तदशोऽयंनभ्यस्त्विन्द्रोऽस्ति कौषीतकिराह तो द्वौ।

यद् ब्रह्म यत् क्षत्रमिति प्रभेदान्नभ्यं द्विधा प्राह च याज्ञवल्क्यः।। (महर्षिकुलवैभवम्-पृ. 52)

5. पृथिव्या बहिर्मण्डलाकृतौ निस्सृता अग्निरश्मयो यदा वायुमण्डलादुपरि प्रयान्ति तदा ते चितेनिधेयाग्निरुच्यन्ते।

अस्मिन् चितेनिधेयाग्नौ वाक्तत्त्वं संश्लिष्टं भवति। अयं च रथन्तरं साम यावत् गतिं करोति।

6. पृथ्वीपिण्डे य विद्यमानोऽग्निःसग्निरेव चित्याग्निरस्ति। अयमेष पार्थिवद्रव्येषु सजीवेषु निर्जीवेषु चापि व्याप्तो भवति। यावदयं चित्याग्निःसजीवेषु तिष्ठति तावदेव तस्यायुर्भवति। एवमेव यावदयं निर्जीवेषु तिष्ठति तावदेव तेषामस्तित्वं भवति, पश्चादवस्थान्तरमुपपद्यते। एवं च मर्त्यधर्मित्वं चित्याग्नेरवधेयम्।

7. तैत्तिरीयसंहिता/पृ.292

8. महर्षिकुलवैभवम् - पृ. 62

9. ऋग्वेदसंहिता - 10/114/8

10. न थुर्वति गच्छतीत्यतोऽथवार्ा गत्यवरोधकः।

11. छन्दोविदुर्वाग्नियतिं द्विधा तद् वायौ हि मर्त्यामृतजातिभेदात्।

छन्दाँसि मर्त्यानि विशेषतोऽष्टौ संकेतितार्थानि निदानशास्त्रे।। (महर्षिकुलवैभवम्-पृ. 52)

12. अमृताग्निः मर्त्याग्निः पाशुकाग्निश्चेत्येतदग्निविशेषत्रितयं संहत्य विराडित्युच्यते (महर्षिकुलवैभवम्-पृ. 49)

13. लोकश्चितोऽग्निः प्रथमोऽन्तरिक्षं महाव्रतं द्यौर्महदुक्थमस्ति।

उक्थं दिवं याति महाव्रतं तु स्यादन्तरिक्षे स्थितिरत्र सोऽग्नि।। (महर्षिकुलवैभवम्-पृ. 55)

यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं ता ऋच स ऋचां लोकः (शतपथ - 10/5/2/1)

14. वानस्पत्यसोममयो वायुविशेषस्तन्मण्डलं शिपिविष्टसंज्ञम्।

15. प्रजापतेरयं द्वादशस्तनुः। उक्तं च - एष प्रजापतिर्द्वादशधा परिच्छिद्यते। अग्निरादित्यः सोमः पशवो वायु र्मृत्युः पृथ्वी द्यौरग्निरादित्यो मनः संवत्सरश्चेति।

16. शतपथ ब्राह्मण - (11/1/6/1-13)

17. तैत्तिरीयसंहिता / पृ. 368

18. महर्षिकुलवैभवम्-पृ. 65

19. शतपथ - (11/1/6/1/19)

नल संवत्सर 2079

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा
जयपुर

आज के दिन से 1, 91, 38,13,122 वर्ष पूर्व ईश्वर ने सृष्टि की रचना प्रारम्भ की, इसलिये हम रोज संकल्प लेते हैं :-

ऊँ अस्य श्रीविष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य ब्रह्मणो द्वितीये परार्धे श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे बार्हस्पत्यमानेन प्रभवादिषष्ट्यब्दानां मध्ये रुद्रविंशतिकायां नलनामसंवत्सरस्य 2079 तमस्य विक्रमाब्दस्य.....

संवत्सर 60 होते हैं, उनमें यह 50वाँ नल नामक सम्वत्सर है। संवत्सर का फल भी उसके नाम के स्वरूप के अनुसार ही होता है, ऐसी प्रजापति की व्यवस्था रही है। नल संवत्सर का क्या महत्व है ? देखें -

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।
पुण्यश्लोको विदेहश्च पुण्यश्लोको जनार्दनः।।

नल अद्भुत व्यक्तित्व हैं जो सतयुग में जन्मे । रामायण में भी इनका उल्लेख मिलता है, पद्म पुराण, स्कन्द पुराण, ब्रह्म पुराण आदि में विस्तृत वर्णन मिलता है, महाभारत में तो नलोपाख्यान विस्तृत है ही। शतपथ ब्राह्मण में भी नल को वास्तुशास्त्र के देवता के रूप में स्मरण किया है। नल का राजस्थान से भी पूर्वजन्म का सम्बन्ध है । यह कथा पुराण में मिलती है।

शिव का यतिनाथ रूप

यह इस प्रकार है और हमारे लिए गौरव की बात है :-

प्राचीन समय में अर्बुद नामक पर्वत के पास आहुक नाम का एक भील रहता था। उसकी पत्नी का नाम आहुका था। पति-पत्नी दोनों शिव भक्त थे। वे अपने गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अपनी दिनचर्या का अधिकांश समय

शिवोपासना में व्यतीत करते थे। उस भील दंपति का जीवन भोले भंडारी शिव की पूजा-अर्चना के लिए पूर्णतया समर्पित था।

एक दिन संध्या के समय जब भगवान भास्कर अस्ताचल की ओर बढ रहे थे, तब भगवान शंकर भील की भक्ति की परीक्षा के लिए सन्यासी का वेश धारण कर उनकी कुटिया पर पहुँचे। उस समय केवल आहुका ही वहाँ थी। उसने संन्यासी को प्रणाम किया। संन्यासी बोले - 'भील! मुझे आज की रात बिताने के लिए जगह दे दो। मैं कल प्रातःकाल यहां से चला जाऊंगा।

आहुका ने कहा - 'यतिनाथ! हमारी यह झोंपड़ी छोटी है। इसमें केवल दो व्यक्ति ही ठहर सकते हैं। अभी सूर्यास्त नहीं हुआ है और कुछ रोशनी है, अतः आप रात बिताने के लिए किसी अन्य स्थान को तलाश लें।'

यह सुनकर आहुक बोला - 'प्रिये! ये यतिनाथ हमारे अतिथि हैं। हम गृहस्थ हैं। गृहस्थधर्मानुसार हमें इनकी सेवा करनी चाहिए। इन्हें किसी अन्य स्थान पर जाने के लिए नहीं कहना चाहिए। अतः रात में तुम दोनों झोंपड़ी के अंदर रहो और मैं शस्त्र लेकर बाहर पहरा दूंगा।'

भोजन के बाद यतिनाथ और भील की पत्नी कुटिया के अंदर सो गए तथा आहुक शस्त्र लेकर बाहर पहरा देने लगा। रात के समय जंगली हिंसक पशुओं से बचाव करता रहा, लेकिन प्रारब्धानुसार जंगली पशु उसे मार कर खा गए। प्रातःकाल आहुका ने कुटिया से बाहर निकल कर अपने पति को मृत देखा, तो वह बहुत दुखी हुई। जब यति कुटिया से बाहर निकले, तो आहुक को मृत देख कर उन्होंने भीलनी से कहा - 'यह सब मेरे कारण हुआ है।'

आहुका बोली - 'यतिनाथ! आप दुखी मत होइए। मेरे पति की मृत्यु प्रारब्धवश हुई है। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए इन्होंने अपने प्राण त्याग दिए हैं। इनका कल्याण हुआ है। आप मेरे लिए एक चिता तैयार कर दें, जिससे मैं पत्नी धर्म का पालन करते हुए अपने पति का अनुसरण कर सकूं।' आहुका की बात सुनकर संन्यासी ने उसके लिए एक चिता तैयार कर दी। ज्यों ही आहुका ने चिता में प्रवेश किया, त्यों ही भगवान शिव साक्षात् अपने रूप में उसके समक्ष प्रकट हो गए और उसकी प्रशंसा करते हुए बोले - 'तुम धन्य हो आहुका! मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ। तुम इच्छानुसार वर माँगो। तुम्हारे लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं है।

भगवान शिव को अपने सामने देख कर और उनकी वाणी सुन कर आहुका आत्मविभोर हो गई। उसके मुख से वचन नहीं निकले। उसकी उस स्थिति को देख कर देवाधिदेव अति प्रसन्न होकर बोले - 'मेरा यह पति रूप भविष्य में

हंस रूप से प्रकट होगा। मेरे कारण तुम पति-पत्नी का विछोह हुआ है, मेरा हंस रूप तुम दोनों का मिलन करवाएगा। तुम्हारा पति निषध देश में राजा वीरसेन का पुत्र नल होगा और तुम विदर्भ नगर में भीमराज की पुत्री दमयंती होओगी। मैं हंसावतार लेकर तुम दोनों का विवाह कराऊँगा। तुम लोग राजभोग भोगने के पश्चात मोक्ष पद प्राप्त करोगे जो बड़े - बड़े योगेश्वरों के लिए भी दुर्लभ है।' इतना कह कर भगवान शिव अंतर्धान हो गए और भीलनी आहुका ने अपने पति के मार्ग का अनुसरण किया।

दूसरे जन्म में भील राजा नल और भीलनी दमयंती के नाम से जाने गए। यतिनाथ शिव उस समय हंस रूप में प्रकट हुए और उन्होंने ही नल एवं दमयंती का विवाह कराया। हंस का अवतार लेकर भगवान शिव ने ही उनके बीच संदेश वाहक का कार्य कर उन्हें सुख पहुँचाया था।

कलियुग में दोषों को दूर करने के लिए नल और दमयंती का स्मरण किया जाता है।

स्कंद पुराण में नल द्वारा चर्ममुंडा देवी की स्तुति का वर्णन है, जो निम्न प्रकार है -

सिद्धक्षेत्र के रुद्रावर्त क्षेत्र में पूर्वकाल में महात्मा राजा नल ने चर्ममुण्डा देवी की स्थापना की थी। वीरसेन के पुत्र नल इस भूमण्डल के राजा थे,जो समस्त सदुणों से युक्त थे। विदर्भदेश की राजकुमारी दमयन्ती उनकी पतिव्रता पत्नी थी। एक समय राजा नल ने कलियुग से आविष्ट हो कर अपने भाई पुष्कर के साथ जुआ खेला । उसमें वे अपना सारा राज्य हार गये । तदनन्तर नल अपनी स्त्री को साथ लेकर गहन वन के भीतर चले गये । वहाँ उन्होंने सोचा कि यदि दमयन्ती राजा भीम के घर चली जाय, तो वनवास के कष्ट से मुक्ति हो सकती है। इसलिये रात में इसको सोती हुई छोड़कर मैं दूर चला जाऊँगा, जिससे यह साध्वी दमयन्ती मुझसे विलग होकर कुण्डिनपुर को चली जायगी।

ऐसा निश्चय करके राजा नल सुख से सोयी हुई दमयन्ती को छोड़ कर घोर वन में चले गये । प्रातःकाल उठ कर दमयन्ती जब इधर-उधर देखने लगी,तो उसने अपने पास नल को नहीं पाया । तब वह दुःख से आतुर हो वन में करुण स्वर से विलाप करने लगी और धीरे-धीरे कुण्डिनपुर की राह लेकर अपने पिता के राजमहल में जा पहुँची । नल भी उस वन को छोड़ कर दूसरे बड़े भारी वन में चले गये और घूमते-घूमते हाटकेश्वर क्षेत्र में जा पहुँचे । इसी बीच महानवमी का दिन आ गया । तदनन्तर नल ने वहाँ चर्ममुण्डधारिणी दुर्गा की मृण्मयी मूर्ति बना कर उसका पूजन किया और फल मूलों का भोग लगा कर देवी को तृप्त किया । तत्पश्चात् वे देवी के आगे हाथ जोड़ कर खड़े हो गये तथा बड़ी श्रद्धा के साथ स्तुति करने लगे-

श्रीचामुण्डास्तोत्रम्

जय सर्वगते देवि चर्ममुण्डधरे वरे ।
जय दैत्यकुलोच्छेददक्षे दक्षात्मजे शुभे ॥ 1॥

कालरात्रि जयाचिन्त्ये नवम्यष्टमिवल्लभे ।
त्रिनेत्रे त्र्यम्बकाभीष्टे जय देवि सुरार्चिते ॥ 2॥

भीमरूपे सुरूपे च महाविद्ये महाबले ।
महोदये महाकाये जयदेवि महाव्रते ॥ 3॥

नित्यरूपे जगद्धात्रि सुरामांसवसाप्रिये ।
विकरालि महाकालि जय प्रेतजनानुगे ॥ 4॥

शवयानरते रम्ये भुजङ्गाभरणान्विते ।
पाशहस्ते महाहस्ते रुधिरौघकृतास्पदे ॥ 5॥

फेत्कारारवशोभिष्ठे गीतवाद्यविराजिते ।
जयानाद्ये जय ध्येये भर्गदेहार्धसंश्रये ॥ 6॥

त्वं रतिस्त्वं धृतिस्तुष्टिस्त्वं गौरी त्वं सुरेश्वरि ।
त्वं लक्ष्मीस्त्वं च सावित्री गायत्री त्वमसंशयम् ॥ ॥

यत्किञ्चित्त्रिषु लोकेषु स्त्रीरूपं देवि दृश्यते ।
तत्सर्वं त्वन्मयं नात्र विकल्पोऽस्ति मम क्वचित् ॥ 8॥

येन सत्येन तेन त्वमत्रावासं द्रुतं कुरु ।
सान्निध्यं भक्तितस्तुष्टा सुरासुरनमस्कृते ॥ 9॥

सूत उवाच -

एवं स्तुता च सा देवी नलेन पृथिवीभुजा ।

प्रोवाच दर्शनं गत्वा तं नृपं भक्तवत्सला ॥ 10॥

श्रीदेव्युवाच -

परितुष्टाऽस्मि ते वत्स स्तोत्रेणानेन साम्प्रतम् ।

तस्माद्गृहाण मत्तस्त्वं वरं मनसि संस्थितम् ॥ 11॥

नल उवाच -

दमयन्तीति मे भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ।

सा मया निर्जने मुक्ता वने व्यालगणान्विते ॥ 12॥

अखण्डशीलां निर्दोषां यथाहं त्वत्प्रसादतः ।

लभे भूयोऽपि तां देवि तथात्र कुरु सत्वरम् ॥ 13॥

स्तोत्रेणानेन यो देवि स्तुतिं कुर्यात्पुरस्तव ।

तत्रैव दिवसे तस्मै त्वया देयं मनोगतम् ॥ 14॥

वाञ्छा कल्पलता में भी यह मन्त्र मिलता हैः-

दमयंती नलभ्यां तु नमस्कारं करोम्यहम् ।

अविवादो भवेत्तस्य, कलि दोष प्रशांतये।।

महाभारत में भी निम्न श्लोक प्राप्त होता है :-

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।

ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्।।

विश्व दीप दिव्य संदेश मासिक पत्रिका सदस्यता फार्म

नाम / संस्था का नाम ----------

ग्राम ---------- पोस्ट ----------

तहसील ---------- जिला ----------

फोन ---------- पिन कोड ☐☐☐☐☐☐

राशि (रुपये) ---------- बैंक का नाम ----------

डिमाण्ड ड्राफ्ट/मनीऑर्डर क्रमांक ☐☐☐☐☐☐ (डीडी/एमओ विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान के नाम से भेजे)

सदस्यता शुल्क : एक वर्ष - 800/- पांच वर्ष - 3500/-

सदस्यता हेतु लिखे

विश्व दीप दिव्य संदेश, विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर-302019

Mobile : 9414370717 E-mail : vishwagurudeepashram@gmail.com

Bank Detail

Bank Name	:	**Kotak Mahindra**
Branch	:	**C-Scheme, Jaipur**
A/c No.	:	**5013053111**
IFS Code	:	**KKBK0003541**
Paytm UPI	:	**vishwaguru@kotak**

ऐतिहासिक परम्परा में आद्य शङ्कराचार्य का काल

पं. अनन्त शर्मा
वेदपुराणस्मृति शोध पीठाचार्य
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

प्राचीन भारत में इतिहास का अत्यन्त पावन और उच्च स्थान रहा है। भगवान् के अनन्त नामों में एक नाम इतिहास भी है। महाभारत में भगवान् शिव के सहस्र नामों में एक नाम इतिहास 'इतिहासः सकल्पश्च गौतमोऽथ निशाकरः[1]' के रूप में गिना गया है।

महाभारत जैसे आदि परवर्ती वाङ्मय में प्राप्त यह भाव उत्तरकालिक कल्पना अथवा अर्थवाद रूप कथनमात्र ही नहीं हैं, ऐसे भाव वेदमूलक हैं। अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी को व्रात्य का अनुगमन करते हुए बताया गया है। वहाँ कहा गया है :-

स बृहती दिशमनुव्यचलत्[2]।
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्[3]।

डॉ. सम्पूर्णानन्द के अनुसार इन वाक्यों का अर्थ है कि 'वह बृहती दिशा में चला और उसके पीछे इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी चले[4]।' इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं, कि बृहती वाक् का ही नाम है। वाक् से ही समूचा ज्ञान भण्डार और वाङ्मय निकला।

डॉ. सम्पूर्णानन्द का अर्थ वाक् से वाणी अर्थ तक ही सीमित है। वेद और ब्राह्मणों में व्यक्त वाक् के स्वरूप की व्याप्ति यहाँ नहीं ली गयी है। ऋग्वेद का वागाम्भृणी सूक्त इसका निदर्शन है, इसका अन्तिम मन्त्र देखिये-

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव[5] ।।

अभिप्राय स्पष्ट है, कि वाक् ही भुवनों की आरम्भिका है। फलतः इसकी महिमा द्युलोक और पृथिवी लोक को व्याप्त करते हुए इनसे परे भी है, यह वाक् में ही अवस्थित हैं। 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' जैसे शतशः मन्त्र वाङ्मय में विप्रकीर्ण हैं। इसी आधार पर महाभारत आदि स्मृतियों में स्पष्ट कहा गया है-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः[6]।।

इन उद्धरणों के प्रकाश में व्रात्यकाण्डीय मन्त्रों का अभिप्राय होगा कि व्रात्य (परब्रह्म परमात्मा) के सृष्टि के लिए उन्मुख होते ही उसके मन, प्राण, वाक् रूप अंशों में वाक् का विवर्तन होता है। यह विवर्तन इतिहास-पुराण आदि है। वस्तुतः इतिहास सृष्टि भी है तथा सृष्टि का घटक तत्त्व भी है। यह सृष्टि का बोधक ज्ञान भी है, जिसकी सनातनता व्रात्य के साथ बतायी गयी है।

इस सृष्टि में जो कुछ भी है, वह इतिहास का विषय है। यह तथ्य यद्यपि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है तथापि दृढता के लिए निम्नलिखित तैत्तिरीय वचन प्रस्तुत हैं :-

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमान-चतुष्टयम्।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते[7] ।।

स्मृति, प्रत्यक्ष, इतिहास और अनुमान, ये सम्पूर्ण आदित्यमण्डल अर्थात् ब्रह्माण्ड के विधान के मूल और बोधक हैं।

इतिहास के इसी महत्त्व को दृष्टि में रख कर छान्दोग्य उपनिषद् में वेदों की गणना में पाँचवें स्थान पर इतिहास पुराण को रख कर उसे पाँचवा वेद तथा वेदों का वेद कहा गया है

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्[8] ... । यही कारण है कि भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने ऐतिह्य (इतिहास) में सम्पूर्ण आप्त उपदेश वेद आदि को गिन लिया है-

ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशः वेदादि[9]। अपने इसी महत्त्व से इतिहास अध्ययन में प्रमुख स्थान रखता था। धार्मिक कृत्यों के अङ्ग के रूप में भी इतिहासाध्ययन का अनुशासन है। मनु पितृकार्य में इतिहास वेद के अध्ययन का उपदेश देते हैं-

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च[10] ।।

पितृकर्म में स्वाध्याय अर्थात् वेद सुनाएँ। इस स्वाध्याय में अर्थात् वेद के इन मन्त्रों में धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण के विषय हों तथा उनके खिल हों।

शासक वर्ग के लिए विशेष रूप से इतिहास का ज्ञान अपेक्षित है, अतः प्रतिदिन इतिहासश्रवण अनिवार्य है। अश्वमेध के पारिप्लवाख्यान में सभी विषयों के उपदेश में इतिहास-उपदेश का भी विधान है, जो इसकी अनिवार्यता का उपलक्षण है। यहाँ आठवें दिन इतिहास वेद का क्रम है .. **तान् उपदिशति, इतिहासो वेदः सोऽयम्, इति कञ्चिद् इतिहासम् आचक्षीत**[11]। उन्हें उपदेश दिया जाता है, यह इतिहास वेद है, यह बता कर कोई इतिहास कहे।

अर्थशास्त्र के अन्तिम आचार्य महामति आर्य चाणक्य ने (ईसापूर्व 15वीं शती) इसी परम्परा के आधार पर शासक के लिए नित्य निश्चित समय पर इतिहासश्रवण को निश्चित दिनचर्या का रूप दिया है। वात्स्यायन विष्णुगुप्त कौटिल्य की मान्यता में वेद की पूर्णता इतिहास से ही है। अर्थशास्त्रीय प्रथम प्रकरण के तृतीय अध्याय में, जिसका नाम 'त्रयीस्थापना' है। वे कहते हैं-

सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी। अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः[12]। वेद त्रयी अथर्व तथा इतिहास का नाम है और त्रयी साम ऋक् तथा यजुःरूप तीन अवयवों का नाम है। यहाँ त्रयी को तीन अवयवों से सम्पन्न अर्थ में लिया गया है, अथर्व तथा इतिहास को विषय के रूप में लिया गया है। इस प्रकार रचना और विषय को समुदित भाव से वेद बताया गया है। इतिहास की पूर्ववाङ्मयसम्मत असाधारण व्याप्ति को प्रकट करते हुए यह स्पष्ट करते हैं :- **पुराणम् इतिवृत्तम् आख्यायिका उदाहरणम् धर्मशास्त्रम् अर्थशास्त्रं च इतिहासः**[13] ।

पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र, ये सब 'इतिहास' हैं। इस इतिहास के स्वाध्याय के लिए शासक की दिनचर्या में दिन का पश्चिम भाग नियत किया गया है -

'पश्चिममितिहासश्रवणे'[14]

इतिहास के इस गौरव को देश भुला चुका था, वेद की नित्यता को तथा इतिहास की, काल विशेष में घटना का वर्णन करने वाली विधा के रूप में अनित्यता को लेकर वेद में इतिहास की गन्ध तथा स्वीकृति न करने वाले विद्वानों के इस विशाल वर्ग में तो इतिहास को और भी हीन स्थिति में पहुँचा दिया। इस स्थिति में विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा ने इतिहास को उसका विस्मृत गौरव प्रदान करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। वे वेद को यज्ञ, विज्ञान, इतिहास और स्तोत्र इन चार महास्कन्धों में विभाजित कर इस चिर प्रक्रान्त क्रान्तदृष्टि का परिचय देते हैं।

''यज्ञश्च विज्ञानमथेतिहासः स्तोत्रं तदित्थं विषये विभक्ताः ।
वेदे चतुर्धा त इमे चतुर्भिर्ग्रन्थैः पृथक्कृत्य निरूपणीयाः[15]।।''

सिद्धान्तवाद का यह प्रतिज्ञासूत्र ब्रह्मविज्ञान शास्त्र के सभी ग्रन्थों में दोहराया गया है। पञ्च ख्यातियों के विभिन्न ग्रन्थों का निर्माण भी उन्होंने किया है। इनमें भारत का पुरातन इतिहास विमर्शपूर्वक दिया गया है। जगद्गुरुवैभव और इन्द्रविजय भी इतिहास ही हैं।

जिस देश में ज्ञान के प्रस्थानों में इतिहास का शीर्षस्थान रहा है, आज उसी देश में उस इतिहास का इतना नगण्य और निर्जीव सा स्थान हो गया है, कि विद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्वेच्छामूलक विषय से अधिक कोई महत्त्व नहीं रह गया है। शासनतन्त्र की भी इसके प्रति कोई आस्था नहीं है। तथाकथित इतिहासविद् भी अहं को प्रथम स्थान देते हैं तथा इतिहास को तोड़ने मरोड़ने में तनिक भी सङ्कोच नहीं करते। इन लोगों की परप्रत्ययनेयबुद्धिता भी स्पष्ट है, ये आज भी वैज्ञानिकता के नाम पर पाश्चात्य स्थापनाओं के मण्डन को ही अपना चरम लक्ष्य मानते हैं। यदि ऐसा न होता तो आज पूरे देश में तथ्यात्मक एक सा इतिहास होता, जो सभी मूर्धन्य इतिहासकारों के मिल जुल कर विचारने का सुन्दर परिणाम होता, किन्तु ऐसा है नहीं। न केवल इतना ही, अपितु इस ओर किये गये प्रयत्न भी निरर्थक ही रहे।

सन् 1948 में पं. भगवद्दत्त ने स्वतन्त्र भारत के महामहिम राष्ट्रपति और पीपल्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया के सञ्चालक डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से निवेदन किया था। दुर्भाग्य है कि यह प्रस्ताव, यह निवेदन सफल नहीं हो सका। इससे इतिहासज्ञों की मानसिकता स्पष्ट है। उसी का परिणाम है, कि एक अलौकिक प्रतिभा और पुरुषार्थ के मूर्तरूप कोटि कोटि भारतीयों की श्रद्धा के केन्द्र जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य जैसे व्यक्ति के इतिहास को भी विचारकों द्वारा दी गयी दृष्टि से आज तक देखते जा रहे हैं और अपेक्षित संशोधन नहीं कर पा रहे हैं, यह अत्यन्त खेद का विषय है।

ऐसा नहीं है कि इस दिशा में कोई प्रयास नहीं हुआ हो। प्रयास हुए भी हैं, किन्तु पाश्चात्य संस्कारों में पले तथा भारतीय दृष्टि से शून्य इन धुरन्धरों की दृष्टि में ऐसे प्रयास भारतीय परम्परा के प्रति आस्था को अन्धश्रद्धा तथा नहीं की भूमि पर स्थिति होने से एकांगी या अवैज्ञानिक मान लिए जाते हैं।

ऐसे लोग यह भूल जाते हैं, कि 'भारतीय दृष्टि' की आवश्यकता का अनुभव करने वाले और इसके लिए प्रेरणा देने वाले भी इतिहास के मूर्धन्य विद्वान् ही हैं। विसेण्टस्मिथ के इतिहास की आलोचना करते हुए प्रोफेसर विनय कुमार सरकार के ये विचार सदैव स्मरणीय और अनुसरणीय हैं कि 'स्मिथ ने जिस सामग्री को बरता है, वह भारतीय विद्वान् उसी का उपयोग करता तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिल्कुल दूसरी कहानी पेश करता।[16]' इसी को रायबहादुर डॉ॰ हीरालाल ने 'भारतीय दृष्टि' कहा है।[17] इसी भाँति भारतीय इतिहास परिषद् के इलाहाबाद के 1938 के अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण में प्रोफेसर भण्डारकर ने भारतीय इतिहासकारों की बड़े जोर से भर्त्सना की थी, जो पाश्चात्यों की विचारधारा से प्रभावित होकर यह कहते हैं, कि भारतीयों को इतिहास की समझ नहीं थी।

कितने आश्चर्य की बात है, कि भगवान् शङ्कर का काल निर्धारित करने में अभाव प्रमाण को मूल आधार बनाया गया है। चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग की भारत यात्रा सन् 631 से 640 तक रही है। इसके यात्रा विवरण में कहीं शङ्कराचार्य का उल्लेख नहीं है, अतः मान लिया गया है, कि इस समय तक शङ्कर का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर भाष्य में योगाचार के खण्डन में धर्मकीर्ति की कारिका का-

सहोपलम्भ नियमादभेदो नीलतद्धियोः[18]

अंश उद्धृत किया गया है । बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति का समय सन् 635-650 माना जाता है। फलस्वरूप शङ्कर निश्चय ही इसके बाद हुए हैं, यह आन्तरिक प्रमाण से सिद्ध है।

ये दोनों ही प्रमाणाभास हैं। ह्वेन्त्सांग बौद्ध था। प्रमुख रूप से बौद्ध वाङ्मय का अध्ययन और सङ्कलन करने यहाँ आया था। बौद्ध विचार विरोधी शङ्कर का उल्लेख उसके लिए अनिवार्य नहीं था। वहाँ अनेक श्रौत सूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख भी नहीं है, क्या ये ग्रन्थ भी उस समय तक नहीं बने थे? वस्तुतः यह आधार ही सर्वथा अयुक्त है।

स्वयं धर्मकीर्ति का समय ही प्रामाणिक नहीं है, अतः उससे शङ्कर का परवर्ती होना तो सिद्ध है, किन्तु काल निश्चित करना सर्वथा असङ्गत है।

'शङ्कर मन्दार मरन्द सौरभ' के नाम से निम्नलिखित पद्य प्रसिद्ध है--

निधिनागेभवल्ल्यब्दे विभवे मासि माधवे।
शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्करार्योदयः स्मृतः[19]।।

इसका अर्थ है, कि 3889 कलिवर्ष में विभव नामक संवत् में वैशाख शुक्ल दशमी को शङ्कर का जन्म हुआ। कलिसंवत् का प्रारम्भ ईसा से 3102 वर्ष पूर्व हुआ। तदनुसार 3889-3102 = 787 सन् शङ्कर के जन्म का आता है। कलिसंवत् तथा ईस्वी सन् के प्रारम्भिक मासों के अन्तर से 787 से 788 माना गया है।

शङ्कर ने 32 वर्ष की आयु भोगी थी, अतः इसका समय 788-820 बनता है।

यद्यपि इसके अतिरिक्त अन्य भी 6-7 मत और हैं, किन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि उपर्युल्लिखित प्रमाण मात्र से यही काल विद्वानों द्वारा स्वीकृत कर लिया गया है।

पाश्चात्य विद्वान् प्रो. बर्नेल के द्वारा उद्भासित तथा ए.बी.कीथ से समर्थित इस मत के मानने वाले कतिपय प्रमुख भारतीय विद्वान् निम्नलिखित हैं :- श्री अक्षयकुमार दत्त (भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय), श्री सत्येन्द्र नाथ ठाकुर (बौद्धधर्म), श्री उपेन्द्र चन्द्र मुखोपाध्याय (वंशीय चरिताभिधान), सर रमेशचन्द्र दत्त (भारतवर्ष की सभ्यता), श्री महानुभाव पन्थ (दर्शन प्रकाश), श्री लोकमान्य तिलक (गीता रहस्य-परिशिष्ट), श्री यज्ञेश्वर शास्त्री (आर्यविद्या सुधाकर) महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे (धर्मशास्त्र का इतिहास), श्री नीलकण्ठ भट्ट (शङ्कर मन्दार मरन्द सौरभ) श्री बाबू गलाब राय एम.ए. (विक्रम स्मृतिग्रन्थ), रायबहादुर श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा (प्राचीन लिपि माला), श्री सीताराम शरण भगवान प्रसाद रूपकला (भक्तमाल-पियादास जी की टीका) और श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार (इतिहास प्रवेश)। डॉ. बलदेव उपाध्याय भी इन्हें सप्तम शतक का मानते हुए इसी मत के निकट हैं।

शङ्कर के कालनिर्णय के सन्दर्भ में प्रस्तुत उपर्युल्लिखित आधार एवम् ऐसे और भी अनेक आधारभूत तथ्यों का पर्याप्त परीक्षण पक्ष-विपक्ष रूप में विद्वानों द्वारा किया गया है। उन सभी का यहाँ निर्देश सम्भव नहीं है और न उसकी उपादेयता ही है, अतः इनसे भिन्न कुछ अन्य प्रमाण यहाँ दे कर शङ्कर के वास्तविक समय का निर्धारण करने का यत्न ही प्रमुख रूप में किया जाता है।

प्रथम तो इस पद्य का आधार ही विचारा जाए। यद्यपि कहा तो गया है, इसे शङ्करमन्दारमरन्दसौरभ का, किन्तु आज तक इसका मूल स्रोत नहीं मिला है। किस आधार पर यह कहा जा सकता है, कि यह समय आद्यशङ्कराचार्य का ही है ? इस पद के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा 'शङ्कराचार्य' नाम से ही प्रसिद्ध है तथा इनमें 2-4 आचार्यों का तो प्रातिस्विक (निजी) नाम भी शङ्कर ही है। किसी अन्य शङ्कर के समय को आद्यशङ्कर का मान कर और अन्य भारतीय साक्ष्यों की उपेक्षा कर यह काल स्वीकार कर लेना सर्वथा अवैज्ञानिक और निराधार है। इसे मानक मान कर चलना हमारी स्वाध्याय वृत्ति की शिथिलता का प्रमाण है। शङ्कर और उससे सम्बद्ध साहित्य को यथावत् देखने का कष्ट ही नहीं किया गया है।

केवल वैशेषिक दर्शन को छोड़ कर शेष सभी दर्शनग्रन्थों पर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र की प्रौढ़ लेखनी चली है। वाचस्पति ने अपने न्यायसूचीनिबन्ध का समय स्वयं ने निम्नलिखित पद्य में दिया है

न्यायसूची निबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे ।
श्री वाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसु वत्सरे[20] **।।**

वसु अंक वसु शब्दों से 8, 9, 8 अंक बनते हैं, इस प्रकार संवत् 898 न्यायसूची का लेखनकाल आता है,

जो सन् 841 है। शङ्कर के देह त्याग के 21 वें वर्ष में न्यायसूची का लेखन हुआ। शाङ्कर भाष्य पर भामती की टीका भी वाचस्पति की है। भामती में 1.3.28 सूत्रभाष्य व्याख्यान प्रसङ्ग में वे अपने ग्रन्थ तत्त्वबिन्दु का निर्देश करते हैं तथा ग्रन्थान्त पद्य में न्यायकणिका, तत्त्व समीक्षा, तत्त्वबिन्दु का नामतः निर्देश एवम् न्याय सांख्य योग और वेदान्त विषय के ग्रन्थों का नाम बिना निर्देश किया है। अतः भामती उनकी अन्तिम कृति है।

शङ्कर और कुमारिल के शिष्य मण्डन मिश्र के विधि विवेक पर वाचस्पति की न्यायकणिका टीका है। अलौकिक प्रतिभा के धनी शङ्कर केवल 7 वर्ष की अल्पायु में जिस गुरुतर कार्य का सम्पादन कर लेते हैं, वैसा कार्य वाचस्पति जैसे व्यक्ति यदि न कर पायें, तो भामती का प्रणयन उनके 50-50 वय के मध्य मानें और यह आयु यदि सन् 841 के पूर्व हो तो शङ्कर और वाचस्पति साथ साथ रहे हैं। न केवल ये ही, अपितु मण्डन और वाचस्पति भी साथ-साथ रहे हैं। अपने समय में विद्यमान गुरु (शङ्कर) और उनके शिष्य मण्डन की कृतियों पर वाचस्पति जैसा प्रौढ विद्वान् टीका लेखन भी करता है, यह मानना ही होगा। क्या यह बात स्वीकार करने योग्य है ?

भगवान् शङ्कर के अलौकिक प्रभाव को स्वीकार कर वाचस्पति की उनके और उनके शिष्यों के प्रति अगाध श्रद्धा को देख कर यह सम्भव भी मान लिया जाए, तो जयन्त के विषय में क्या कहा जाएगा, जिन्हें बड़े आदर के साथ वाचस्पति न्यायकणिका में याद करते हैं -

अज्ञानतिमिरशमनी परदमनी न्यायमञ्जरी रुचिराम् ।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे[21] **।।**

जयन्त का समय सन् 768 के लगभग माना जाता है। यह शङ्कर से 20 वर्ष पूर्व का काल है। न्यायमञ्जरी में जयन्त, कुमारिल भट्ट, मण्डन मिश्र आदि के विचारों की उनके तथा उनके ग्रन्थों के नाम को उद्धृत करते हुए आलोचना करते हैं। यह कैसे सम्भव है यदि शङ्कर 788 सन् में प्रादुर्भूत हुए हैं तो?

थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाये कि 100-50 वर्षों का अन्तर कोई अन्तर नहीं है, जयन्त से कुछ पूर्व शङ्कर का समय सन् 700 मान लिया जावे। यद्यपि इस मान्यता में साधारणतया कोई दोष नहीं है, तथापि स्वीकृत आनुमानिक आधार और मन्दारमरन्द का पद्य तथ्यहीन प्रमाणित होकर इतिहासकारों के विचारों का थोथापन तो प्रकट करते ही हैं। इसके साथ ही हम इसका क्या समाधान देंगे जो विप्रतिपत्ति स्कन्दस्वामी के निरुक्त भाष्य द्वारा उत्पन्न होती हैं।

निरुक्त 8.2 की व्याख्या में स्कन्दस्वामी ने 'तथा चोक्तं भट्टारकैः' प्रतीक से

पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्यादिवचःश्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते[22] ।।

यह पद्य उद्धृत किया है, जो कुमारिल श्लोकवार्तिक के अर्थापत्ति परिच्छेद का बीसवाँ पद्य है। निरुक्त के इसी खण्ड (8.2) की व्याख्या में स्कन्दस्वामी ने कुमारिल के तन्त्रवार्तिक का 'कल्पनाद्धि प्रयोगाणाम्' पद्य इति भट्टारकैरभ्यधायि' द्वारा नाम निर्देशपूर्वक उद्धृत किया है।

इसी भाँति स्कन्द ने 3.11 की व्याख्या में माण्डूक्योपनिषत् पर गौडपादकारिका का उत्तरार्ध-

मायामात्रमिदं सर्वमद्वैतं परमार्थतः[23]

उद्धृत किया है, जो आगम प्रकरण की 17वीं कारिका है। पुनः यही पद्यार्ध निरुक्त 7.18 की व्याख्या में भी उद्धृत है। गौडपाद शङ्कर के दादा गुरु हैं और कुमारिल शङ्कर से कुछ बड़े समकालिक हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शङ्कर और कुमारिल स्कन्द के पूर्ववर्ती हैं।

यद्यपि स्कन्दस्वामी ने ऋग्भाष्य अथवा निरुक्त व्याख्या आदि में कहीं अपना समय नहीं दिया है, तथापि इनका समय सर्वथा सुनिश्चित है।

स्कन्दस्वामी के शिष्य हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण का भाष्य किया है। इसमें अपना परिचय दिया है तथा भाष्य प्रणयन का वर्ष भी लिखा है। उनके पद्य हैं -

नागस्वामिसुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः ।
श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तिः पौष्करीयकः ।।

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः ।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ।।

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्त त्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्[24]।।

इसका अभिप्राय यह है कि अवन्तिनरेश विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष हरिस्वामी ने अवन्ति में रहते हुए अपनी शक्ति के अनुसार श्रुति का अर्थ बताया है, अर्थात् शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या की है। हरिस्वामी के पिता नागस्वामी

हैं। कलि के जब 3047 वर्ष बीत रहे थे, तब यह भाष्य लिखा गया था। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि ईस्वी सन् 3102 वर्ष पूर्व कलिसंवत्सर का प्रारम्भ होता है, फलस्वरूप 3047 कलि ईसवीय सन् से 55 वर्ष पूर्व का काल है। स्कन्दस्वामी के विषय में हरिस्वामी लिखता है

यः सम्राट् कृतवान् सप्त सोमसंस्थास्तथार्कश्रुतिम् ।

व्याख्याः कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः[25] ।।

जिसने सात सोमसंस्था सम्पादन से सम्राट् पद पाया है तथा व्याख्यापूर्वक ऋग्वेद मुझे पढ़ाया है, वे स्कन्द स्वामी मेरे गुरु हैं।

इस प्रकार स्कन्दस्वामी का समय विक्रम समय पूर्व प्रथम शती का प्रारम्भ सुनिश्चित है। स्कन्दस्वामी के द्वारा गौड़पाद (शङ्कर के दादा गुरु) तथा कुमारिल भट्ट (शङ्कर के समसामयिक) को उद्धृत करना इन दोनों की इनसे पूर्ववर्तिता का अकाट्य प्रमाण है। यह पूर्ववर्तिता न्यूनातिन्यून 100 वर्ष भी हो सकती है तथा सहस्रवर्ष पूर्व भी। इस प्रकार शङ्कर का जन्म 788 में होना मानना तो सर्वथा ऐतिह्यविरुद्ध और भ्रान्त है।

कुछ विद्वान् हरिस्वामी के पद्य में आये सप्त त्रिंशत् शतानि को सप्त और त्रिंशत्शतानि न लेकर सप्तत्रिंशत् शतानि के रूप में एक पद मानते हैं तथा इसका अर्थ 3700 करते हैं, तदनुसार 3740 कलि लेते हैं, जो सन् 638 है। इस अर्थ की युक्तायुक्तता पर विचार यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है। यदि कुछ देर के लिए इसे स्वीकार कर भी लिया जाए तो हरिस्वामी की निरुक्त व्याख्या का काल इससे 38 वर्ष पूर्व भी स्वीकार कर लिया जाए तो सन् 600 आता है। कुमारिल आदि को न्यूनातिन्यून 50 वर्ष पूर्व भी मान लें, तो शङ्कर का सम्भावित काल 550 सन् आता है, जो इनके स्वीकृत काल 788 से 238 वर्ष पूर्व प्रमाणित होता है तथा सन् 788 वाले मत को धराशायी कर देता है। उचित यही है कि हरिस्वामी के शतपथ भाष्य निर्माण को 3047 कलि तदनुसार ईस्वी पूर्व 55 माना जाए तथा शङ्कर की इससे चिरपूर्वता को स्वीकारा जाए। वह कितना पूर्व है, इसके निर्धारण हेतु समुचित साक्ष्यों को खोजा जाए।

सौभाग्य से जिनविजय में भट्ट कुमारिल का जन्म वर्ष तथा शङ्कर का निधन वर्ष प्राप्त होता है जो निम्नलिखित है -

ऋषिर्वारस्तथापूर्णमादौ नाममेलनात्।
एकीकृत्य समेत्याङ्कः क्रोधी स्यात् तत्र वत्सरः ।।

भट्टाचार्यकुमारस्य कर्मकाण्डैकवादिनः ।
ज्ञेयः प्रादुर्भवस्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरे शके[26]**।।**

ऋषि = 7, वार = 7, पूर्ण = शून्य = 0, माक्ष–मनुष्य की आँखें 2, इन अंकों को वामगति की ओर से न्यस्त कर एक संख्या 2077 प्राप्त होती है , जो युधिष्ठिर शक है। ज्योतिष की परिभाषित नामावलि में यह संवत् क्रोधी नाम का है। इस संवत् में कर्मकाण्ड के महान् श्रद्धालु कुमारिल भट्टाचार्य का जन्म हुआ।

प्रचलित युधिष्ठिर शक कलि से 26 वर्ष पूर्व अथवा ईस्वी सन् से 3138 वर्ष पूर्व प्रवृत्त माना जाता है। जैन परम्परा इसे 468 कलि से अर्थात् 2634 ई. पूर्व से वैसे ही मानती है, जैसे कल्हण कलि के 653 वर्ष बीतने पर धर्मराज युधिष्ठिर के शासन का आरम्भ मानता है। कल्हण की यह भ्रान्त मान्यता वराहमिहिर के निर्दिष्ट युधिष्ठिर शक को यथावत् न समझने से बनी। यह एक पृथक् विचारणीय विषय है। अस्तु 2634-2077 = 557 ई. पूर्व का यह काल कुमारिल के जन्म का है।

शङ्करनिधनवर्ष (जिनविजय में) इस प्रकार है-

ऋषिर्बाणस्तथा भूमिर्माक्षौ वाममेलनात् ।
एकत्वेन समेताङ्कस्ताम्राक्षो नाम वत्सरः[27] **।।**

ऋषि = 7, बाण 5, भूमि = 1, माक्ष = 2, इनका 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार विन्यास करने पर 2157 (जैन) युधिष्ठिर शक बनता है, तो 2634-2157 = 477 ई. पू. का वर्ष होता है। इस वर्ष का नाम ताम्राक्ष है। यह शङ्कराचार्य का निधन वर्ष, इसमें 32 का योग किया जाय तो शङ्कर का जीवन काल है, जो 509 ई पू. का वर्ष शङ्करोदय का आता है। । कुमारिल शङ्कर से बड़े थे, परम्परानुसार यह अन्तर 48 वर्ष का था। 509 में 48 जोड़ने पर 557 ई. पू. कुमारिल का जन्मकाल प्राप्त होता है, जिसका जिनविजयोक्त समय से सामञ्जस्य है

काञ्ची कामकोटि पीठ के 56 वें पीठाध्यक्ष (1524-1539 सन) श्री सर्वज्ञ सदाशिवबोध कृत 'पुण्यश्लोकमञ्जरी' के अनुसार शङ्कराचार्य का देहावसान 2625 कलिसंवत् है जो 3102 - 2625 = 477 ई.पू. है।

जब साहित्य के इतने सुपुष्ट प्रमाण हमें उपलब्ध हैं, तो क्या कारण है इन सबको अमान्य समझ लिया जाए। शङ्कराचार्य मठों में सुरक्षित क्रमबद्ध आचार्य परम्परा भी इन प्रमाणकों के अनुकूल है। .. शङ्कर ने वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिए चार मठ स्थापित किये थे, जो स्थापना क्रमानुसार ज्योतिर्मठ, शारदामठ, शृंमेरी मठ तथा गोवर्धन मठ

है। इन मठों में आचार्यक्रम परम्परा सुरक्षित है। शारदापीठ और काञ्ची पीठ में संवत् निर्देश पूर्वक अध्यक्षता काल भी दिया गया है। गोवर्धन पीठ की आचार्य क्रम परम्परा तो है, किन्तु वर्ष काल नहीं दिये गये हैं। ज्योतिर्मठ में यह परम्परा सन् 1500 से दी गयी है, जो उच्छिन्न परम्परा की पुनः प्रतिष्ठा का आरम्भ काल है।

शारदापीठ की परम्परा के अनुसार शङ्कर का प्रादुर्भावकाल युधिष्ठिर संवत् 2631 तथा अवसान काल 2663 है। यह 32 वर्ष का उनका जीवन काल है। यही काल काञ्चीपीठ से समर्थित है, जो कलि संवत् 2593-2625 है। यह ईसापूर्व 509 -477 है।

इन दोनों संख्याओं की विभिन्नता को देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। युधिष्ठिर संवत् का सम्बन्ध युधिष्ठिर के राज्यारोहण से है, जो द्वापर युग का अन्तिम समय है। यह कलि संवत् से 38 वर्ष पूर्व का है। पाण्डवों के महाप्रयाण के अनन्तर कलि का आरम्भ होता है। फलस्वरूप उपरिनिर्दिष्ट संवतों में 38 वर्ष का अन्तर संवत् गणना का है। भगवान् शङ्कर के काल की मतभेद सूचकता का नहीं है। जैसे आज विक्रम संवत 2053 शाक 1918 सन् 1996 आपाततः भिन्न-भिन्न संख्याओं को लिए हुए भी एक ही समान वर्ष के बोधक हैं।

ऊपर दिये गये साहित्यिक प्रमाण तथा आचार्य के मठों की अविच्छिन्न परम्परा परस्पर समर्थक है ही। यहाँ के मनीषियों की अनुश्रुति भी स्पष्ट रूप से आद्य शङ्कराचार्य के इसी काल के पक्ष में है। राष्ट्रदृष्टि ऋषि दयानन्द प्रासङ्गिक रूप में 'बाईस सौ वर्ष हुए कि एक शङ्कराचार्य द्रविड देशोत्पन्न ब्राह्मण' जैसा निर्देश (सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास) करते हुए उसी प्राचीन अनुश्रुति को प्रमाणित करते हैं। यहाँ महाराज सुधन्वा का प्रसङ्ग भी है, जो द्वारका पीठ के आचार्यों की प्रकाशित सूची में शङ्कर के जीवन की प्रमुख घटनाओं में निबद्ध है।

शङ्कर के इस निर्णीत काल (ईसा पूर्व 509-477) के प्रकाश में शङ्कर सम्बन्धित विप्रकीर्ण सामग्री की यथायोग्य योजना कर अनेक ऐतिहासिक भ्रान्तियों को तो साधिकार दूर किया ही जा सकता है, अन्य कृतियों और कृतिकारों का भी काल जाना जा सकता है।

कम्बुज (वर्तमान में कम्बोडिया) के शिवसोम ने जिन भगवान् शङ्कर के चरणों में शास्त्रों का अध्ययन किया था, वे शङ्कर आद्यशङ्कराचार्य नहीं हैं। शिवसोम कम्बुज के महान् राजाओं में गिने गये प्रतापी नरेश इन्द्रवर्मा (सन् 1200) का गुरु तथा जयेन्द्राधिपति का दौहित्र था। कम्बुज के तत्कालीन शिलालेखों में से एक में शिवसोम सम्बन्धी पद्य निम्नलिखित है -

येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छंकराह्वयात् ।
निश्शेष-सूरिमूर्धालि-मालालीढांघ्रिपंकजात्[28]**।।**

जिनके चरण कमलों पर प्रणत सभी विद्वानों के मस्तक रूपी भ्रमर सदैव मण्डराते रहते हैं, उन भगवान् शङ्कराचार्य से जिस शिवसोम ने समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया है।

इन्द्रवर्मा के शासनारूढ होने के समय सन् 877 में शङ्कराचार्य के निर्वाण को 57 वर्ष हो चुके थे। निश्चित ही शिवसोम के साथ आद्यशङ्कर का सम्बन्ध नहीं हो सकता । कम्बुज तथा शङ्कर की ख्याति हो और वहाँ के राजकुल का विद्याव्यसनी भारत में आकर विद्याग्रहण करे, इसके लिए कम से कम 150-200 वर्षों का काल अपेक्षित है। इस दृष्टि से यहाँ उल्लिखित शङ्कर काञ्ची कामकोटि के 38 वें आचार्य अभिनव शङ्कर हैं। इनका अध्यक्षता काल 52 वर्ष का है, जो कलिसंवत 3942 अथवा 840 सन् तक है।

हमें शङ्कर नाम देखते ही आद्यशङ्कराचार्य का स्मरण क्यों हो, आज भी सर्व साधारण में ये सभी पीठाधीश शङ्कराचार्य नाम से ही प्रसिद्ध हैं। भगवान् शब्द संस्कृत में आदर और श्रद्धा के अतिशय को बताने के लिए चिरकाल से सर्वत्र प्रयुक्त होता आया है, अतः शिवसोम के गुरु कोई भी शङ्कराचार्य हो सकते हैं।

पूर्वोद्धृत पद्य 'निधिनागेभवल्ल्यब्दे' द्वारा प्राप्त सन् 787-788 में काञ्चीकामकोटि के 37 वें आचार्य विद्याधन की अध्यक्षता निवृत्ति हुई थी। भावी पीढी का दायित्व है, कि प्राप्त सामग्री का पुनर्मूल्यांकन कर कुछ अतिप्रसिद्ध शङ्कराचार्यों का सही जीवनवृत्त सामने के समान रखें।

कभी केवल इसी भय से किसी तथ्य को स्वीकार करने में विप्रतिपत्ति होती है, कि प्रचलित तथ्यों को बदलते ही सम्पूर्ण इतिहास बदल जाएगा। सत्य अनुसन्धान में यह भय निर्मूल है। इतिहास की रक्षा हमारा धर्म है, इन भ्रान्तियों की नहीं। वस्तुतः इतिहास का बदल जाना असत् के स्थान पर सत् की स्थापना होना ही तो हमारा अभीष्ट है।

जब शङ्कर का समय 509 ईसा पूर्व और इनके साथ कुमारिल का समय 557 ई.पू. है, तो कुमारिल द्वारा स्मृत महाकवि कालिदास तथा वेदविदामग्रणी भर्तृहरि और भी प्राचीन प्रमाणित होते हैं, इनसे प्राचीन चन्द्राचार्य, जो व्याकरण शास्त्र के प्रवक्ता तथा पातञ्जलमहाभाष्य के उद्धारक हैं, प्रमाणित होते हैं, चन्द्रगोमी का काल ई.पू. 1183 है। इनसे पूर्व भगवान् पतञ्जलि का तथा उनसे पूर्व वार्तिककारों कात्यायन आदि का तथा इनसे पूर्व पाणिनि का काल ईसा से लगभग 29-30 शताब्दी पूर्व जाता है।

जब शङ्कर ही 509 ई.पू. हैं, तो धर्मकीर्ति अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वानों का काल शङ्कर से सदियों पूर्व तथा इनसे सदियों पूर्व भगवान् बुद्ध का काल ई.पू. 1850 आता है। जैसे शङ्कर का आविर्भाव काल 1297 वर्ष पूर्व जाता है वैसे ही भामह, कालिदास, अश्वघोष, चन्द्रगुप्त मौर्य, भास आदि सैकड़ों व्यक्तियों का काल आँका जाता है, जो शताब्द सहस्राब्द पूर्व आएगा।

शङ्कर द्वारा अनेक पुराण स्मृतियाँ सूत्रग्रन्थ उद्धृत हैं, उनकी ऐतिहासिकता स्थिर होगी। अतः इन प्रबल साक्ष्यों के आधार पर हमें शङ्कर के यथार्थ काल 509 ई.पू. को स्वीकार करना चाहिये, यही वास्तविक सारस्वत साधना है।

सन्दर्भ

1. महाभारत / अनुशानपर्व - 17/18
2. अथर्ववेद - 15/6/10
3. अथर्ववेद - 15/6/11
4. व्रात्यकाण्ड / पृ.-35
5. ऋग्वेद - 10/125/8
6. महाभारत / शांतिपर्व - 232/24, 231/56, कूर्मपुराणःपूर्वार्द्ध - 2/29, मातृकाविलास-13
7. तैत्तिरीय आरण्यक - 12/1
8. छांदोग्योपनिषद् - 6/72
9. चरकसंहिता - वि. स्थ. 8/41
10. मनुस्मृति - 3 / 262
11. शतपथब्राह्मण - 13/4/3/12
12. कौटिलीय अर्थशास्त्र - 1/3/4,5
13. कौटिलीय अर्थशास्त्र - 1/4/1

14. कौटिलीय अर्थशास्त्र - 1/4/3

15. ब्रह्मविज्ञान (ओझा)

16. पोलीटिकल साइंस (क्वार्टी) - न्यूयार्क 1919/ पृ. 647

17. ओरियंटल कान्फ्रेंस - छठा अधिवेशन (1930) - रायबहादुर डॉ. हीरालाल (भाषण)

18. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य - 2/2/28

19. शंकरमन्दारमरन्द सौरभ

20. न्यायसूचीनिबन्ध - पुष्पिका

21. न्यायकणिका - 1/4

22. निरूक्त 8/2 (व्याख्या), श्लो.वा./अर्था.प./20वाँ पद्य

23. माण्डूक्योपनिषद् - 3/11 (स्कंदस्वामीकृत टीका)

24. शतपथब्राह्मण - हरिस्वामिकृतभाष्यपुष्पिका

25. शतपथब्राह्मण - हरिस्वामिकृतभाष्यपुष्पिका

26. जिनविजय

27. जिनविजय

28. कम्बुज से प्राप्त शिवसोम का शिलालेख / पद्य 23

YOGA SUTRAS OF PATANJALI

A Guide to Self-knowledge

Mahamandleshwar Paramhans
Swami Maheshwaranandapuri

INTRODUCTION

Rishi Patanjali, often referred to as the "Father of Yoga", is the author of the Yoga Sūtras and founder of the of the Rāja school of yoga. It is Patanjali's great merit is that he made available the rich treasure of yoga's philosophy and epistemology, structured, and divided into sections.

Patanjali was not the "inventor" of the teachings he expounded, but he was the first to put in writing the knowledge and teachings of the great masters and yogis of the past, which had been passed on orally for thousands of years. With the Yoga Sūtras Patanjali founded the systematic science of yoga.

The philosophical background of the Yoga Sūtras is formed on the one hand by the Vedas and Upanishads and on the other hand the six Darshanas, the classical Indian philosophical systems (Mīmāmsā, Vaisheshika, Nyāya, Sankhya, Yoga and Vedānta), formulated by eminent rishis based on the Vedas and Upanishads and summarized in the form of sūtras.

A sūtra contains the essence of the teaching or lecture of a rishi or master. At the end of his discourse the master summarized the main points of his lecture in a mnemonic sentence. The students could easily remember this short sentence and thus recall the whole lecture back into their memory. Therefore, the sūtras, taken on their own, are often difficult to understand and require explanation by a knower, a master. There are many translations and

interpretations, but the explanations of a realized master awaken in the disciple the living knowledge that was transmitted at that time.

The 196 sūtras of Patanjali are divided into four chapters:

1. SAMĀDHI-PĀDA samādhi - highest consciousness.
2. SĀDHANA-PĀDA sādhana - spiritual practice.
3. VIBHŪTI-PĀDA vibhūti - strength, power, miraculous power (siddhi).
4. KAIVALYA-PĀDA kaivalya - oneness, union with the Absolute

PART 1: SAmāDhI-PāDA (51 sūtras)

Before deciding on a path, one wants to know the goal of that path. Therefore, in the first part of his sūtras, Patanjali discusses the highest goal of yoga: SAMĀDHI, as the level of consciousness, the highest perfection of which knowledge, the knower and the object are united or in which the union of ĀTMA and PARAM ĀTMA (the individual self with the cosmic self) is fulfilled. Through yoga exercises and meditation, a person can attain the highest samādhi, the perfect and permanent unity of his individual consciousness with the cosmic self - its origin.

PART 1, SUTRAS 1-2

1. atha yoga-anuśāsanam

   atha – now

   yoga – Yoga

   anuśāsanam – instruction, discipline

   Now the principles of yoga are explained.

2. yogaś-citta-vṛtti-nirodhaḥ

yoga – Yoga

citta – consciousness, mind

vṛtti – change, movement, function, activity

nirodha – control, calming, putting to rest

This sūtra can be interpreted in two ways:

(a) Yoga begins when the activities of consciousness (thoughts and emotions) are under control and at rest.

or

b) Through yoga, the ability to keep thoughts and emotions under control and calm is attained.

Each person reveals himself not only through the physical body, but beyond that through invisible, subtle vibrations, impulses, and "waves" in consciousness, which also radiate outward.

Those functions of the psyche, through which the personality expresses itself are called ANTAHKARANA in Sanskrit: manas, buddhi, chitta and ahamkāra (mind, intellect, consciousness, and sense of self). Until these four are purified, no progress on the spiritual path is possible.

Chitta here means consciousness in the sense of waking consciousness.

Patanjali distinguishes five states of consciousness: unconscious, subconscious, conscious, supreme consciousness, and cosmic consciousness. The content of our consciousness is formed by vrittis ("waves"), which are the carriers of all our inner stirrings, thoughts, feelings, desires, sense impressions, and so on.

Chitta-vrittis are our biggest problem. We occupy ourselves with so many unnecessary thoughts, with past events that we cannot change, with worries about the future that may not happen. Especially when we are relaxing, going to sleep, during leisure time on vacation, etc. such thoughts or issues resurface from the subconscious.

Every thought is a disturbance of concentration. There is a very apt image: Consciousness is like a lake. Is a calm and clear, without waves, you can see all the way to the bottom. Now someone comes, takes a stone and throws it into the water. What happens? Many waves are created, the water is churned up so that you can't see what's on the bottom, what is at the bottom. The same thing happens when we are meditating, when we are in a calm and relaxed state, and suddenly a restless thought appears. This is like a stone thrown into the lake, and the concentration is over.

As long as vrittis are floating around in the consciousness, they cover up the true self within us. Only when the mind is calm can we gain the realization, "I am not my thoughts, I am the ātma, the Self!"

The vrittis, of course, always have a cause. If we do not know and do not resolve their cause, vrittis will appear again and again. Ask yourself: What are you thinking, why do you think this way, what should you think and why should you think this way? By examining and analysing why we think the way we think, we can make a difference.

What makes us feel anxious and worried? Possibly it is about family, job, partner, health, the financial situation, etc. If you let your thoughts run wild, you will eventually lose control at some point. Our thoughts are just like a car that is idling down a hill gaining more and more speed, so that at some point it is no longer in control and an accident occurs.

Whether we progress or regress on the spiritual path depends on our feelings and desires, which in turn are caused by our thoughts. How many chapters in life have we started since we existed as an individual? They are all present in the memory of our mind. We are only aware of the memories from the recent past, but all other impressions are still not lost. Everything is recorded and stored in the subconscious mind. Purifying and controlling the vrittis is a task that we must work on until the last stage of our development and until the last moment of our life. The vrittis haunt us not only in this life, but through several lives. Hidden

in the unconscious and subconscious, they go along through several lifetimes and emerge from time to time in consciousness.

Dying does not mean that all problems are solved. When one needs to leave the body without having attained God-realization, this causes further complications and problems. Why? Death does not mean that everything is over; on the contrary, it means that all kinds of unpredictable things begin. The self must look for a body again, and it is uncertain what circumstances we will be born into. It is not even certain whether we will receive a human life again. Therefore, we should strive to achieve the spiritual goal in this life.

Do not try to stop the mind - vrittis are necessary in life, to learn, to have experiences, to be creative. But train and control your mind. The mind is the guardian at the gate between subconsciousness and consciousness, and it depends on what thoughts it allows to pass. That's why what Patanjali tells us in the 2nd sūtra is so important: Control your mind and purify it especially from all negative thoughts and feelings.

Negative vrittis can be purified or "reversed" by positive vrittis. Finally, however, positive vrittis must also be overcome and dissolved. Here is an example: Wood contains, so to speak "unconsciously", fire. If one rubs a piece of wood against another, this "dormant" fire is ignited and burns first the piece of wood and finally also the second wood, that helped to make the fire. Thus we should first awaken positive vrittis, in order to purify or burn the negative vrittis with them. After that, however, we must also dissolve the positive vrittis.

Only when all waves in consciousness have come to rest, the self reaches the realization of its true existence.

Reference:

Die Yoga Sutras Des Patanjali, Mahamandaleshwar Paramhans Swami Maheshwarananda. Ibera Verlag, Vienna Austria, 2020

वैदिक सृष्टि विज्ञान-१

प्रो. कैलाश चतुर्वेदी
पूर्व निदेशक, संस्कृत शिक्षा विभाग
जयपुर, राजस्थान

मूकं करोति वाचालं, पङ्गुं लंघयते गिरिम्,
यत्कृपा तमहंवन्दे, परमानन्दमाधवम् ।।

पृथ्वी-सूर्य-चन्द्रमा-ग्रह-नक्षत्र-जल-तेज-वायु-आकाश आदि की उत्पत्ति कैसे हुई? इस विषय को लेकर मानव जाति के उद्गम से आज तक चिन्तकों और वैज्ञानिकों की अनेकानेक विचारधाराएँ प्रवाहित होती रही हैं। एक अज्ञात तत्व की कल्पना से लेकर BLACK HOLE तक की सम्भावनाओं पर विज्ञान की भी नयी नयी अवधारणाएँ बनती रहीं, मिटती रही और आज भी बनती जा रही हैं और ऐसी संभावना है कि भविष्य में मानव जाति के अस्तित्व तक विज्ञान के नित-नूतन आविष्कारों/अनुसंधानों के माध्यम से यह खोज जारी रहेगी। सर्वसम्मत सिद्धान्त न तो पहले कभी स्थापित हुआ है, और न ही आधुनिक विज्ञान की भावी संभावित खोजों से ऐसी कोई संभावना है।

दुर्भाग्य कहिए, अथवा सौभाग्य, पर आज तक इन दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों की कोपपूर्ण कृपादृष्टि भारतीय वैदिक चिन्तन की सूक्ष्मता एवं गहनता से परे रही है। दुर्भाग्य इसलिए कि 15000 वर्ष प्राचीन सनातन भारतीय संस्कृति का उत्तराधिकारी 'कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर-फिर ढूँढे घास' की लोकोक्ति का उदाहरण बनता हुआ विगत 3500 वर्ष से किसी अज्ञात शापवश अपना समस्त ज्ञानविज्ञान सर्वथा विस्मृत कर चुका है और प्रत्येक क्षेत्र में पश्चिमी जगत् का अन्धानुकरण कर रहा है। उसमें अपने 'वैदिक ज्ञान' की न तो कोई आन्तरिक चेतना शेष रही है और न ही वह, उसे जानने-समझने का कोई गम्भीर प्रयास करता हुआ दिखायी पड़ रहा है। भौतिक-सुखों की चाह में वह इतना उलझ गया है, कि उसकी समग्र बौद्धिक-अन्तश्चेतना क्षीण होती जा रही है।

सौभाग्य इसलिए कि प्रयोगशालाओं के परीक्षणों में उलझा पाश्चात्य वैज्ञानिक जगत्, आज भी शाश्वत वैदिक चिन्तन एवं उसकी अवधारणाओं का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर पाया है - परिणामतः तनिक से भी प्राकृतिक झंझावात यथा आंधी-तूफान-जलवृष्टि-भूकम्प-ज्वालामुखी के एक रौद्ररूप के समक्ष असहाय हो जाता है।

अस्तु, आज हम आपके समक्ष सृष्टि-रचना के दो मूलभूत तत्त्वों का स्वरूप रखने का प्रयास करेंगे, जिनके माध्यम से असीम अज्ञेय-ऋतस्वरूप-परब्रह्म ने अपने विशाल एवं विद्यमान सृष्टि से त्रिगुणित लोक में रहते हुए

चतुर्थांश के रूप में समग्र-सृष्टि की रचना की। इसका प्रथम संकेत हमें ऋग्वेद के दशम मण्डल के 129 वें सूक्त में उल्लिखित इस मन्त्र से मिलता है-

एतावानस्य महिमातो, ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि।।
त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साऽशनानशने अभि[1]।।

अर्थात् उस अप्रतिम-अपरिमेय-अविज्ञात-पुरुषब्रह्म का महिमालोक इस दृश्यमान जगत् अथवा ब्रह्माण्ड से त्रिगुणित विशाल है, जिससे पृथक् रह कर उसने समग्र सृष्टि की रचना की।

ये दो मूलभूत तत्त्व क्या हैं? जिनसे उस ब्रह्मरस-सागर-स्वरूप ऋत परमात्मा ने सत् सृष्टि रची। प्रथम है 'वेद'। जिस ऋग्वेद ग्रंथ को हम और आप 'वेद' कह कर वेदों के मूलस्वरूप का सत्त्व नष्ट कर रहे हैं - वह वेद नहीं है, अपितु विद् धातु से उद्भूत वह जानने का अर्थबोधक 'स्थिति-तत्त्व' है, जिसके माध्यम से सर्वप्रथम सृष्टि-रचयिता ने अपने ऋत स्वरूप को प्रकट करने का उपक्रम किया, जो परमतत्व नाम-रूप-गुणहीन अवस्था में विद्यमान था, उसको नाम-रूप-गुण युक्त अवस्था में प्रकट किया। दूसरा मूल तत्त्व है 'ऋषि' जो मूलतः 'प्राण' के रूप में प्रकट हुआ और हमने भ्रान्तिवश उसे भी मनुष्य ऋषियों के रूप में प्रचारित कर दिया। वस्तुतः 'वेद' रूप वाक् अर्थात् शक्ति और ऋषि रूप बल अथवा एनर्जी दो ही ऐसे मूल तत्व हैं, जिनके माध्यम से असत् परमात्म तत्त्व सत् रूप में प्रकट हुआ। मानव-शरीर में स्थित सप्त-प्राण-रूप ऋषि इसी का बोध कराते हैं - ये हैं पुष्करपर्ण - वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-दिव्य-ऋत और सत्य । सृष्टिरचनाकार ने अपने ऋत रूप को इन्हीं सप्तर्षि प्राणों द्वारा प्रकट किया। इसीलिए कहा जाता है, ऋषयोः मन्त्रद्रष्टारः।

सृष्टि का मूल कारण ये ही वाक् रूप सत्यवेद और द्रष्टास्वरूप ऋषि प्राण थे, जिनके द्वारा उस अदृश्य-अज्ञात-अकल्प्य-परमात्मा ने स्वयं को त्रिविध स्वरूप में प्रकट किया। जो परमात्मा पहले नाम-रूप-गुण-विहीन था, उसी ने सृष्टि प्रतिष्ठा-उपलब्धि रूप वेदात्मक नाम-रूप-गुण त्रयी द्वारा त्रिसत्य की सत्ता बना कर प्रस्तुत की।

आप कहेंगे, कि इस काल्पनिक शब्दाडम्बर से हम बिल्कुल नहीं समझ पाये कि कौन सा ऋत् परमात्मा, किस वेद-प्राण-द्वय के द्वारा सत् रूप में प्रकट हुआ, तो हम उसे आपको एक सर्वलोक विदित सामान्य प्रक्रिया के माध्यम

से समझाने का प्रयास करते हैं-

सारा विश्व जानता और मानता है, कि माता के गर्भ में स्थित बालक पिता द्वारा प्रदत्त बीज के रूप में गर्भाधान के द्वारा स्थापित हुआ। बस, तद्वत ही वह परमतत्त्व जो पहले बीज रूप में अदृश्यावस्था में था, वेदवाक् रूप सत्ता से 'स्वयम्भू स्वरूप' में स्थापित हुआ। बीजावस्था में शिशु का जिस प्रकार कोई दृश्यमान स्वरूप नहीं था- तद्वत उसका भी कोई रूप प्रकट नहीं हुआ - वह सर्वथा नाम-रूप-गुण-विहीन था। माता के गर्भ में प्राणवायु के धक्के से बाहर निकलते ही शिशु की सृष्टि हो गयी और लोक में उसकी 'नाम-रूप-गुण' युक्त अवस्था बन गयी। वहाँ भी ऋषि रूप चैतन्य प्राण प्रस्फुटित होते ही स्वयंभू लोक की उत्पत्ति हो गयी। क्या यह प्रक्रिया मानव-निर्मित है, कदापि नहीं, सृष्टि चाहे विश्व की हो अथवा मनुष्य की या फिर अन्य जड़-चेतन पदार्थों की , सृष्टिरचनाकार ही उसके मूल में विद्यमान होता है, जिसने स्वयं को ऋत् से सत्य, अज्ञात से ज्ञात तथा अवेद से वेद रूप में प्रकट किया। इसी लिए कहा गया है कि :-

ऋत्-सत्य-ऋत-सत्य-ऋत इसी क्रम में वह 'परब्रह्म' अपना सृष्टियज्ञ कर रहा है। अहृदय-अशरीर ऋत् है - सहृदय-सशरीर सत्य है। असीम एवं अशरीर तथा अहृदय होने की अवस्था में वह ऋत् है और अनन्त सूर्य-पृथिवी-चन्द्र आदि से मूर्त रूप धारण कर वह सत् है। सत् का बीज रूप ऋत् है और ऋत का प्रकट रूप सत्। अदृश्यमान अथवा दृश्यमान सभी अवस्थाओं में वह परब्रह्म सत्य है- अतः उसी का वर्णन करते हुए कहा गया है -

ऋतमेव परमेष्ठि, ऋतं नान्येति किञ्चन,
ऋते समुद्र आहितः, ऋते भूमिरियं श्रिता[2] ।

उस रस-स्वरूप-विशालतम सागर से ही अनन्त बिन्दु सृजित होते हैं और उसी में विलुप्त हो जाते हैं।

यहाँ उल्लिखित 'ऋषि' शब्द के अर्थ को लेकर भी हमें अपना भ्रम दूर कर लेना चाहिए। स्थूल रूप में हम जिन ऋषियों को मनुष्य ऋषि के पर्याय के रूप में लेते हैं, वस्तुतः वेद में वह चार स्वरूपों में अभिव्यक्त हुआ है- प्रथम है असत् प्राण रूप, दूसरा है नक्षत्र रूप, तीसरी श्रेणी वेदद्रष्टा ऋषियों की और अन्तिम व चतुर्थ है वेदवक्ता मनुष्य ऋषि। इसे भी लौकिक रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है, कि सदियों पूर्व एक परम्परा में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भी द्विवेदी-त्रिवेदी-चतुर्वेदी कहा जाता था और आज उसकी शताधिक उत्तरवंश परम्परा में जन्मा भी उन्हीं उपाधियों से विभूषित होता है।

अस्तु, इसके पूर्व कि हम उस असत् ब्रह्म रूप सृष्टि रचनाकार की समस्त उत्तरोत्तर रचनाओं को विस्तृत रूप में समझने का प्रयास करें 'सिंहावलोकन न्याय' से विश्व की अन्य संस्कृतियों में मान्य एवं प्रचलित प्रमुख अवधारणाओं पर भी दृष्टि डालना समीचीन होगा।

वेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-स्मृतियाँ जिस परब्रह्म का प्रकटीकरण दो तत्त्वों 'वेद और ऋषि'-रस ओर बल - वाक् और प्राण रूप में स्वीकार करती है - उन्हें आधुनिक विज्ञान 'Energy and Force' नाम से कहता है और उनका प्रकटीकरण भी आकस्मिक रूप में ही स्वीकार करता है। सर्वप्रथम वैदिक संस्कृति के समानान्तर समझी जाने वाली 'ग्रीक-सभ्यता को ही लीजिए। ग्रीक मान्यता है 'Suddenly from light came 'GAEA' the mother earth and from her came URAUS or EREBUS, the sky along with other gods like pontus. GAEA and URAUS had 12 children. Then GAEA gave birth to some monsters.'[3]

किसी पूर्व-पृष्ठभूमि के बिना किसी पूर्व सत्ता के अचानक प्रकाश का छूना और उसके द्वारा पृथ्वी एवं आकाश रूप स्त्री-पुरुष युगल की सृष्टि का आधार क्या था, कौन था और किस रूप में था - यह उल्लेख ग्रीक सिद्धान्त में किसी भी रूप में नहीं मिलता।

इसके विपरीत एक दृष्टि अब वैदिक-अवधारणा पर डालिए, जो असत्-अमूर्त रूप में विद्यमान 'परब्रह्म' के सत् और मूर्त रूप का इस प्रकार वर्णन करती है-

नासदासीन्न सदासीत्तदानीं, नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्,
किमावरीव कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः, किमासीद् गहनं गभीरम्,
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न पर किञ्चनास।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 129वें सूक्त में उल्लिखित इस मन्त्रद्वय में सर्वथा स्पष्ट रूप में उस अलक्ष्य, अपरिमित, असीम, अदृश्य परमात्व-तत्वं की सत्ता बता दी गयी है, जो हमें विश्व के अन्य किसी ग्रंथ में देखने को नहीं मिलती - ऋषि स्पष्ट कह रहा है कि प्रत्यक्ष-दृश्यमान सृष्टि-रचना से पूर्व न आकाश था, न अन्तरिक्ष, न पृथ्वी, न सूर्य, न चन्द्र, न जीवन-मृत्यु का कोई चिह्न। बस था तो वह एक सर्वशक्तिमान् वायुरहित, परमतत्त्व स्वज्योति प्रकाशमान 'परब्रह्म', जिसने अपनी कामना अथवा इच्छाशक्ति से इस सृष्टि का सर्जन किया।

उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि करने वाले सहस्त्रों उद्धरण प्रमाण-रूप में मिलते हैं पर यहाँ उन सबका उल्लेख किया जाना न तो संभव है और न ही समीचीन। केवल कतिपय प्रमुख मन्त्रात्मक उद्धरण प्रासंगिक रूप में यहाँ प्रस्तुत हैं-

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है -

असदेवेदमग्र आसीत्। असतः सद् अजायत[5]

अर्थात् पूर्वावस्था में सब कुछ असत् रूप था, जिससे सत् की उत्पत्ति हुई।

छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा है -

असद्वा इदमग्र आसीत। किं तदसदिति। ऋषयो वा तदग्रेऽसदासीत्'[6]

सब कुछ पहले असत् अथवा अप्रकट रूप में था - तो फिर क्या था ? उत्तर देते हैं- वे प्राणरूप ऋषि ही थे, जो सर्वप्रथम सत् रूप में प्रकट हुए।

सर्वाधिक स्पष्ट एवं सरल रूप में इसका उल्लेख भगवान मनु के निम्न कथन में मिलता है, जो सृष्टि-रचना की सारभूत प्रक्रिया का वर्णन करता है-

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं, प्रसुप्तमिव सर्वतः।।
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्,।
महाभूतादिवृत्तौजा प्रादुरासीत्तमोनुदः[7]**।।**

अर्थात् यह सम्पूर्ण दृश्यमान सृष्टि पहले सर्वथा अन्धकारमय, शून्यवत्, अज्ञात, बिना किसी प्रतीकात्मक चिह्न अथवा लक्षण के सुप्तावस्था में थी - जिसे उस परमशक्ति ने स्वयम्भू के रूप में प्रकट किया और क्रमशः समग्र महाभूतादि प्रपञ्च की रचना की।

यदि गहनता से विचार किया जाए तो उपर्युक्त सभी वैदिक सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की 'BLACK HOLE' की नूतन अवधारणा को पुष्ट करने वाले हैं।

उस परमतत्व ने स्वयंभू - परमेष्ठि-सूर्य-पृथ्वी-चन्द्र रूप पञ्चपर्वा सृष्टि की रचना की, कैसे की - इसका उत्तर है वेद रूप वाक् और ऋषि रूप बल के साथ मिल कर वह स्वयं बीज रूप में पूर्व में विद्यमान था और सृजन हेतु

आवश्यक दो पदार्थों वाक् और ऋषि अथवा रस और बल से उसने सृष्टि रचना की।

इसी सन्दर्भ में हमें एक बार पुनः विश्व की अन्य सभ्यताओं की ओर संक्षिप्त-दृष्टि डालनी होगी, कि वे सृष्टि रचना के विषय में और क्या कहती हैं ?

ईसाई व इस्लाम प्रायः एक की सिद्धान्त की अपने अपने तरीके से प्रतिष्ठा करते हैं। साररूप में इनका मत निम्न प्रकार है -

The world was created 6000 years ago, God created the world with much pain and labor in six days. A miracle creation of Adam and eve was there & finally there was a world wide flood before creation. This theory is based on 'Old Bible's frist chapter of creative narration 'GENESIS'[8]

आधुनिक विज्ञान कहता है-

The initial singularity is a gravitational singularity predicted by general relativity to have existed before the BIG-BANG and thought to have esteemed all the energy and space time of the universe.

The universe began, scientist believe with every spark of its energy jammed into a very tiny point. This extremely dense point exploded with unimagible force creating matter and propelling it out-ward to make billion of galaxies of our vast universe.

Overall, we can very well say that the western theory of creation was greatly influenced by GREEK MYTHOLOGY.[9]

क्या आप पाश्चात्य विज्ञान जगत् की इसे हठधर्मिता नहीं मानेंगे कि ऋग्वेदीय-मंत्र-वर्णित सृष्टि-रचना के मूलभूत एवं प्राचीनतम सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा कर उसने उसी की काल्पनिक कथा को महत्ता प्रदान की। विश्व के किसी भी दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्त को ले लीजिए, निष्कर्ष सब का एक ही निकलता है - चाहे उसे आप 'TINY POINT' नाम दे दीजिए अथवा ऋग्वेदवर्णित शून्य में प्रचण्ड तेज से आलोकित परमात्म तत्त्व। सभी एक दूसरे के पर्याय हैं और सभी एक ही निष्कर्ष पर अपने अपने तरीके से पहुँच रहे हैं।

भारतीय दृष्टिकोण से साररूप में यही कहा जा सकता है, कि ऋग्वेद-वर्णित वह 'परब्रह्म-पुरुष' सृष्टिरचना से पूर्व रस-समुद्र रूप में असीम-अनन्त-अविज्ञात लोक में स्थित था - रसो वै सः' स्वरूप में था और उसी ने अपनी

कामना अथवा इच्छाशक्ति से बलरूप 'वेद एवं ऋषि' तत्वों के साथ संयोजन कर इस पञ्चपर्वा-सृष्टि की रचना की, जिसमें प्रथम दो लोक 'स्वयंभू एवं परमेष्ठी' हमारी लौकिक दृष्टि से अगोचर हैं और शेष तीन - सूर्य-पृथिवी-चन्द्र चर्मचक्षुओं से देखे जा रहे हैं। उसका वैशिष्ट्य सब में झलक रहा है और वह सागर से बिन्दु तक ब्रह्माण्ड से जीवात्म पर्यन्त विद्यमान है। जैसे मकड़ी अपने चारों ओर जाल बुन कर उसमें निवास करती है - तद्वत् वह 'परब्रह्म' सृष्टि का निर्माण कर उसमें अवस्थित है।

साथ ही यह भी शाश्वत-सत्य जान लेना चाहिए, कि जिस दिन जिस पल वह असत् रूप परब्रह्म चाहेगा, प्रतिसृष्टि के रूप में इस पञ्चपर्वा सृष्टि का क्रमशः विनाश कर स्वयं के उदर में समा लेगा। जैसा कि 'ईशोपनिषद्' के प्रारम्भ में कहा गया है - 'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किं च जगत्यां जगत्....' उसने सृष्टिरचना अवश्य की है, पर उसका सम्पूर्ण नियन्त्रण और अनुशासन उस पर बना हुआ है। सारे लोक उससे भयभीत और कम्पायमान हैं, जिसके लिए 'कठोपनिषद्' में कहा गया है -

भयादस्याग्निस्तपति, भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च, मृत्युर्धर्षत पञ्चमः[10]**।।**

उस असत् रूप 'परब्रह्म' द्वारा रचित पञ्चपर्वा सृष्टि क्या है, इसका स्वरूप कैसा है, कैसे निर्माण हुआ, इसमें निहित मूल तत्त्व कौन से हैं, जिनकी मानव-सृष्टि में भूमिका है, - इसकी चर्चा हम अगली वार्ता में करेंगे।

।।ॐ तत् सत्।।

सन्दर्भ

1. पुरुष सूक्त
2. अथर्ववेद
3. The Cultural Principals about Veda's
4. नासदीयसूक्त
5. तैत्तिरीय उपनिषद्
6. छान्दोग्य उपनिषद्
7. मनुस्मृति
8. The Cultural Principals about Veda's
9. The Cultural Principals about Veda's
10. कठोपनिषद्

ऋतुचक्र की वैज्ञानिकता

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (वेदविज्ञान)
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

ऋतुचक्र प्रकृति के अधीन होता है। जिस भी तत्त्व से निसर्ग (सृजन के आधार) की अभिव्यक्ति होती है, वह तत्त्व ही 'प्रकृति ' संज्ञा द्वारा व्यवहृत किया जाता है। यह प्रकृति तत्त्व ब्रह्म में शक्तिरूप से समाहित था। लोकरचना को लक्ष्य कर सर्वप्रथम ब्रह्म ने ही प्रकृति को उत्पन्न किया। उस समय यह प्रकृति पाँच रूपों वाली थी। प्राण अर्थात् वायु, आप अर्थात् जल, वाक् अर्थात् वाणी, अन्नाद अर्थात् प्राणी एवं अन्न अर्थात् वनस्पति। ये पाँच प्रकृतियाँ स्थायी रूप से पहले से ही ब्रह्म में विद्यमान थीं। जब ब्रह्म सविता के रूप में अभिव्यक्त हुआ, तब उसके तप को धारण करने के लिए ऋत एवं सत्य आविर्भूत हुए। इन ऋत एवं सत्य में जो ऋत था, वह सक्रिय होने के कारण प्रकृति को पूर्णतया प्राप्त हो गया और जो सत्य था, वह स्थिर होने के कारण ब्रह्म में ही अवस्थित रहा। यह ऋत ही ऋतुओं के आविर्भाव का मूलभूत कारण तत्त्व है, ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि सोम एवं अग्नि का एक मात्र यही नियंत्रक तत्त्व था।

लोक में दृश्यभूत पदार्थों की सत्यता एवं अस्तित्वमयता में भी ऋत ही कारण है, अतएव ऋत सत्यगर्भित होता है, ऐसा कहा जाता है। इन ऋत एवं सत्य में पौर्वापर्य नहीं होता । गाय के सींगों के समान एक साथ उत्पत्ति एवं एक साथ ही संस्थिति माननी चाहिए। तप से उत्पद्यमान होने के कारण तप के ही प्रभाव से प्रभावित ये दोनों संवत्सर चक्र में प्रवर्त्तमान होते हैं। सत्यगर्भित ऋत का उसी से संकोच एवं प्रसार सम्भव होता है। उससे पुनः सोम एवं अग्नि का भी संकोच एवं प्रसार सम्भव होता है। उनमें जब सोम का संकोच होता है, तब अग्नि का प्रसार होता है तथा जब अग्नि का संकोच होता है तब सोम का प्रसार होता है। ऐसा होने पर प्राथमिक अवस्था में सोम के संकोच एवं अग्नि के प्रसार से क्रमशः उष्णता का प्रारम्भ होता है। द्वितीय अवस्था में अग्नि के संकोच एवं सोम के प्रसार से शैत्य (सर्दी) का प्रारम्भ होता है। शैत्य एवं उष्णता में न्यूनाधिक्य से ऋत में भी न्यूनाधिक्य सम्भव होता है। उस न्यूनाधिक्य का बोधक (कालावधि विशेष) ऋतु कहा गया है।

ऋत का न्यूनाधिक्य तीन स्तरों वाला होता है - सामान्य, मध्यम एवं अधिक। ऐसा मानने पर उष्णत्व जब सामान्य मध्यम एवं अधिक होता है, तब यह ऋत पुनः तीन रूपों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार यह ऋत छः अवस्थाओं वाला हो जाता है। ऋत की ये छः अवस्थाएँ ही छः ऋतुएँ कही जाती हैं। अतएव कहा गया है कि इन

अग्नि एवं सोम के अन्वयसम्बन्धगत तारतम्य से तारतम्य को प्राप्त करने के कारण ऋतुएँ भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं। ये ऋतुएँ समान आयाम वाली होती हैं, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित किया गया है-

'ऋतुओं की सृष्टि हुईं। वे उत्पन्न होने पर अनेक थीं। वे बोलीं - इस प्रकार होते हुए हम प्रजनन में समर्थ नहीं हो सकतीं। हमें रूपों से समान आयाम वाली हो जाना चाहिए। तत्पश्चात् वे एक एक ऋतु रूपों से युक्त हो गयीं। इस कारण एक ऋतु में सभी ऋतुओं के रूप विद्यमान होते हैं।[1]'

वेदविज्ञान में ऋतुओं का दो प्रकार का वर्गीकरण प्राप्त होता है। इस विषय में प्रथमतया कुछ विद्वान् सवन के त्रैविध्य के कारण ऋतुओं का तीन होना प्रतिपादित करते हैं। तीनों ही ऋतुओं में प्रत्येक की दो दो अवस्थाओं के भेद से युक्त होने के कारण जो छः प्रकार वाला होना कहा गया है, वह केवल अवस्थाओं का ही जानना चाहिए, न कि ऋतुओं का, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं। उनका अभिप्राय निम्नानुसार कहा जा सकता है :-

शीत ऋतु के चार मास होते हैं, उनके बाद दो मास संधि के होते हैं। फिर उष्ण (ग्रीष्म) ऋतु के चार मास होते हैं तथा उनके बाद फिर दो मास सन्धि के होते हैं। चार चार मास उन शीत एवं उष्ण के अपने अत्यय (समृद्धि) के कारण समान कालावधि के होते हैं। इनसे ही शीत, उष्ण (ग्रीष्म) एवं वर्षा काल के रूप में ये तीन ऋतुएँ सम्भव होती हैं।

कतिपय अन्य विद्वान् सूर्य के दक्षिण अयन में प्रवेश के दिन से ऋतु प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं। उस समय से लेकर वे एक ऋतु का 72 दिन का अभिप्लव (प्रभावकाल) बतलाते हैं। इस प्रकार उनके मत में पाँच ही ऋतुएँ होती है। वे इस प्रकार हैं:- वर्षा, शरद्, शीत, वसन्त एवं ग्रीष्म। यहाँ हेमन्त एवं शिशिर को एक ही ऋतु माना गया है। उसे ही शीत संज्ञा द्वारा कहा गया है। पाँच ऋतुएँ स्वीकार करने के विषय में वेदविज्ञान का अभिमत प्रकट करते हुए पं. मधुसूदन ओझा महोदय लिखते हैं, कि पाँक्त यज्ञ के पाँच पर्व होते हैं, अतः ऋतुएँ पाँच ही माननी चाहिए। ये पाँच ऋतुएँ, प्रत्येक 72 दिवसात्मक जाननी चाहिए। इनके कालनिर्धारण के विषय में भी उन्होंने कहा है-

'दक्षिणायन प्रवेश दिवस के लेकर 72 दिवसात्मक अभिप्लव के क्रम से वर्षा, शरद्, शीत, वसन्त एवं ग्रीष्म ये पाँच ऋतुएँ होती हैं। इनमें भी एक एक ऋतु में तीन तीन भागों की कल्पना करनी चाहिए। पहले 16 दिवस प्रातः सवन के रूप में मानने चाहिए, ये ही प्रस्ताव हैं। तत्पश्चात् 40 दिवस माध्यन्दिन सवन के रूप में मानने चाहिए, ये उद्गीथ हैं। फिर 16 दिवस सायं सवन के रूप में मानने चाहिए, ये निधन हैं।[2]'

उपर्युक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्रत्येक ऋतु तीन सवनों का आदान (ग्रहण) करती है। उसी आधार पर

काल का संकलन करने से इनका 72 दिवसात्मक होना सिद्ध होता है।

दूसरे कतिपय विद्वान् अपेक्षानुगत ऋतु व्यवस्था को मानने वाले 'छः ऋतुएँ होती हैं', ऐसा कहते हैं। उनके मतानुसार आपेक्षिक ऋतु व्यवस्था में वसन्त आदि शब्द द्यावापृथिवी के संयोग के वैचित्र्य का उपनिबन्धन करने वालों की भाँति व्यवस्थित हुए हैं, जैसे पृथ्वी एवं सूर्य के क्रमशः दूर होने से अथवा क्रमिक दूरी के बढ़ने से क्रमशः वसन्तादि सम्भव होते हैं। (इसी प्रकार) पृथ्वी एवं सूर्य के क्रमशः समीप होने अथवा क्रमशः सामीप्य बढ़ने से क्रमशः शरदादि सम्भव होते हैं। ऐसा मानने पर विवक्षा के वैशिष्ट्य से अनेक प्रकार की कल्पनायें निर्दिष्ट हुई हैं। जैसेः- ''छः ऋतुएँ दो दो राशियों के क्रमविभाजन के आधार पर कल्पित की जाननी चाहिए। उत्तरायण में विषुवत् रेखा के दोनों ओर तीस तीस अंशों तक वसन्त ऋतु माननी चाहिए। तत्पश्चात् उनके आगे के साठ अंशों तक ग्रीष्म ऋतु माननी चाहिए। तत्पश्चात् पुनः उनसे आगे के साठ अंशों तक हेमन्त ऋतु माननी चाहिए। तत्पश्चात् पुनः उनसे भी आगे के साठ अंशों तक शिशिर ऋतु माननी चाहिए[3]।

इन छः ऋतुओं की पृथक्ता सोम अग्नि एवं वायु के तारतम्य से जाननी चाहिए। जो पाँच ऋतु कहने वाले हैं, वे केवल सोम एवं अग्नि के तारतम्य से ही ऋतुओं की कालावधि निर्धारित करते हैं और जो छः ऋतुएँ कहने वाले हैं वे सोम, अग्नि एवं वायु के तारतम्य से उनकी अपेक्षा विशिष्ट कालावधि निर्धारित करते हैं। इस विषय में कहा गया है:-

एक मात्र ऋताग्नि ही सोम की अपेक्षा जब ह्रास एवं वृद्धि को प्राप्त करती है, तो उससे ऋत रूप में विद्यमान सोम अग्नि वायु ही छः ऋतुएँ कही जाती हैं।[4]

अब इन छः ऋतुओं के विषय में विशेष रूप से कहते हैं, जिनसे उनका स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा-

वसन्त ऋतु – व्ययशेष अग्नियाँ जिसमें निवास करती हैं या विद्यमान रहती हैं, वह ऋतु 'वसन्त' नाम से कहा जाता है अर्थात् इससे पूर्व अग्नियाँ अल्पावशिष्ट होती हैं। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि ऋतुओं के उत्पादन में दस प्रकार की अग्नियाँ प्रवृत्त (सक्रिय) होती हैं। उनमें प्रमुख है गायत्राग्नि। इसके अतिरिक्त आठ धिष्ण्याग्नियाँ हैं तथा एक अतिरिक्त अग्नि सावित्राग्नि है। इन अग्नियों में गायत्राग्नि सदैव समान रहती है। पृथ्वी से अत्यन्त दूर होने के कारण तथा दिक्सोम से तारतम्य के अभाव के कारण। जो उसके अतिरिक्त आठ धिष्ण्याग्नियाँ हैं, वे गतिभेद से प्रत्येक संवत्सर (वर्ष) में अन्यान्य (विभिन्न) रूपों में प्रवृत्त होती हुई प्रतिक्षण विषमता को प्राप्त करती हैं। यह विषमता गायत्राग्नि की समता से इस वसन्त ऋतु में समीकृत की जाती है। इसके परिणामस्वरूप साम्य एवं वैषम्य के

अभाव की प्रतीति उष्णता के आधार पर इस काल में जाननी चाहिए। इनके अतिरिक्त जो सावित्राग्नि है, वह दिन में बढ़ने से थोड़ा प्रभाव उत्पन्न करती है, किन्तु रात्रि में पुनः घट जाने से प्रभावरहित हो जाती हैं। फलस्वरूप वसन्त में अग्नियाँ प्राणियों को कष्ट की अनुभूति नहीं करातीं, अपितु दिन एवं रात्रि दोनों समय ही रमणीय प्रतीत होते हैं।

ग्रीष्म ऋतु – ग्रीष्म वह ऋतु है जिसमें अग्नियाँ अपने आन्तरिक एवं बाह्य बल से महाभूतों को ग्रहण करती हैं। अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में पाँचों ही महाभूत दशविध अग्नि के प्रभाव से प्रभावित होते हैं। जैसा कि द्यौ गायत्राग्नि के सामीप्यातिशय के कारण अत्यन्त उत्तप्त होता है। इससे आकाश महाभूत भी प्रकृष्ट रूप में तप्त हो जाता है। धिष्ण्य अग्नियों के प्रभाव से अन्तरिक्ष में विद्यमान वायु भी प्रकृष्ट रूप में तप्त हो जाता है। स्वयं अग्नि भी अपने उद्ग्राभ (उन्नयन) से तेजोराशियों से परिपूर्ण होता है। सावित्र अग्नि के प्रभाव से पृथिवी तथा पृथिवी पर विद्यमान जल ये दोनों महाभूत भी उत्तप्त हो जाते हैं। कुछ विद्वान् यहाँ 'रसों का अतिशयपूर्वक' ग्रसन करती है, इस कारण इस ऋतु को ग्रीष्म कहते हैं' ऐसी भी व्युत्पत्ति दर्शाते हैं। सभी रस इस समय क्षय को प्राप्त करते हैं। इस कारण पदार्थों की आर्द्रता में न्यूनता आ जाती है और इसी प्रकार ताप की प्रबलता से अनुभूति होती है। सायंकाल सावित्र अग्नि के प्रभाव की न्यूनता के कारण रमणीय प्रतीत होता है।

वर्षा ऋतु – अग्नियों की चरमोत्कर्ष पर संस्थिति ही वर्षा हैं। इसमें तीनों प्रकार की अग्नियाँ (गायत्राग्नि, धिष्ण्याग्नि एवं सावित्राग्नि) उद्ग्राभ (उन्नयन) रूप लक्षण से युक्त हो जाती हैं। अर्थात् जब ऋतुकारक दशविध अग्नि का उत्कर्ष चरमसीमा पर होता है, तब वे दशविध अग्नियाँ वरीयता को प्राप्त कर लेती हैं। इससे प्राकृत यज्ञरूपी अभिप्लव के क्रम से सूर्यरश्मियों में विद्यमान जल का प्रस्रवण सम्भव होता है, वही वर्षा नाम से लोक में जाना जाता है। वेदविज्ञान के अनुसार वृष्टि सोम की होती है। सोम ही जल के रूप में परिणत हो जाता है। अग्नि के अतिशय से संतप्त हो जाने के कारण। यहाँ पं. मधुसूदन ओझा महोदय लिखते हैं, कि जब अन्तरिक्षवर्त्ती धिष्ण्य अग्नियाँ पूर्ण उद्ग्राभ (उन्नयन) को प्राप्त कर लेती हैं, तब उनके प्रभाव से ब्रह्माग्निरूपी वायु क्षुब्ध हो जाता है। क्षोभ के कारण उसमें विद्यमान सोम के परमाणुओं में घर्षण की स्थिति बनती है और जल उत्पन्न होता है। तेज के संयोग से ही जलों का जैसे पूर्व में विलयन होता है, वैसे ही बाद में संघात भी होता है। वही इस समय प्रस्रव को प्राप्त करता है।[7] तैत्तिरीयसंहिता में कहा गया है -

'अग्नि ही यहाँ से वृष्टि को उत्प्रेरित करती है। मरुद्गण उस उद्भूत वृष्टि को प्राप्त करते हैं। और जब यह आदित्य नीचे की ओर विद्यमान रश्मियों से पर्यावृत्त हो जाता है, तो वृष्टि होने लगती है।[5]'

शरद् ऋतु – शरद् वह ऋतु है, जिसमें अग्नियाँ आय से अधिक शीर्ण हो जाती हैं। अर्थात् जब अग्नियों की शीर्णता आपेक्षिक दृष्टि से अधिक होती है अथवा सामान्य अग्निक्षय की अपेक्षा अग्निक्षय की अधिकता जब अनुभूत होती है, तब शरद् ऋतु आविर्भूत होती है, ऐसा माना जाता है। वेद विज्ञान के अनुसार जैसे जैसे अग्नि का क्षय पूर्व की अपेक्षा इसमें वृद्धि को प्राप्त करता है, वैसे वैसे सोम का उद्ग्राभ (उन्नयन) भी क्रमशः बढ़ता हुआ लक्षित होता है। यह स्थिति संवत्सर के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में उत्पन्न होती है। विशेष रूप से यहाँ यह जानना चाहिए कि जिस अग्नि का क्षय यहाँ कहा गया है, वह केवल सावित्राग्नि का ही है। अर्थात् शरद् ऋतु में धिष्ण्य अग्नियों का क्षय नहीं होता, किन्तु सावित्राग्नि के क्षय से केवल अग्नि में प्रभावशून्यता उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप पृथ्वी पर प्राणी शीत का अनुभव करते हैं। अग्नि के आनुक्रमिक अपक्षय से ही शरद् यह संज्ञा भी सार्थकता को प्राप्त करती है। जैसा कि ओझा महोदय ने कहा है :-

'जिस प्रकार अग्नियों का वसन्त में क्रमिक उपचय (समृद्धि) होता है उसी प्रकार इस समय (शरत्काल में) क्रमिक विशरण (अपक्षय) होता है, अतः इसे शरद् कहते हैं।'[6]

हेमन्त ऋतु – हेमन्त वह ऋतु है, जिसमें वायु में विद्यमान अग्नियाँ बाहर निकल जाती हैं, अतः वायु में अग्नियों की हानि के कारण ही इसे हेमन्त कहा गया है। अर्थात् जब अन्तरिक्ष में विद्यमान वायु में भी अग्नि का क्षय हो जाता है, तब वह काल हेमन्त ऋतु कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि धिष्ण्य अग्नियों का भी अपक्षय इसमें क्रमशः प्रारम्भ हो जाता है। उससे वायु में भी शीतलता की अनुभूति प्राणिमात्र को होने लगती है। आठों धिष्ण्याग्नियों में गतिभेद से कभी न्यूनता तो कभी अधिकता का अनुभव होता है। दिक्सोम के उद्ग्राभ (उन्नयन) के कारण भी वायु में शीतलता की वृद्धि इस समय स्वाभाविक रूप से होती है। गायत्राग्नि का क्षय नहीं होता, किन्तु सावित्राग्नि एवं धिष्ण्य अग्नियों के अपक्षय से अग्नि की अपने अधिकांश में हीनता सम्भव हो जाती है। कुछ अन्य विद्वान् हेमन् को तुषार का वाचक शब्द मान कर उसके आधिक्य के कारण हेमन्त संज्ञा से इस कालखण्ड को जाना जाता है, ऐसा भी कहते हैं।

शिशिर ऋतु – शिशिर ऋतु के विषय में आचार्य यास्क लिखते हैं - 'शिशिर' शब्द 'शमु' या 'श्रृ' धातु से निष्पन्न हुआ है। ('शमु' धातु का अर्थ है शान्ति अर्थात् जब अग्नि की शान्ति हो जाती है, तो उसे शिशिर कहते हैं या 'श्रृ' धातु का अर्थ है शीर्ण होना अर्थात् आत्यन्तिक क्षय। जब अग्नि का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है, तो उसे शिशिर कहते हैं।[8] अर्थात् जिस काल में अग्नि के आत्यन्तिक क्षय की अनुभूति होती है, वह काल शिशिर संज्ञा वाला होता है। पण्डित मधुसूदन ओझा महोदय इसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं-

'अग्नि के अंश पुनः पुनः अतिशय से जिस समयावधि में शीर्ण हो जायें, वह अत्यन्त क्षीण अग्नि वाला तथा सोमप्रधान वायु का काल शिशिर कहा जाता है।[9]'

ओझा महोदय की उक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है, कि इस कालखण्ड में वायु में सोम की अत्यन्त वृद्धि होती है तथा अग्नि का अत्यन्त क्षय सर्वत्र देखा जाता है। इस अवधि में गायत्राग्नि के भी क्षीण हो जाने से न केवल अन्तरिक्ष में, अपितु द्यौ में भी शीतलता (शीताधिक्य) उत्पन्न हो जाती है। पृथिवी पर तो सोममय वायु से शैत्य का चरमोत्कर्ष दिखायी देता ही है।

सन्दर्भः

1. शतपथब्राह्मण - 8/7/2/4
2. पितृसमीक्षा / पृ. 40
3. पितृसमीक्षा / पृ. 40
4. तैत्तिरीयसंहिता - 2/4/5
5. तैत्तिरीयसंहिता - 2/4/10
6. पितृसमीक्षा / पृ. 40-41
7. पितृसमीक्षा / पृ. 41
8. तैत्तिरीयसंहिता - 2/7/13
9. पितृसमीक्षा / पृ. 41

राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्

रचयिता
आचार्य डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर विद्यालङ्कार
(महामहिम-राष्ट्रपति-सम्मानित)

हिन्दी-रूपान्तरण-कर्त्री
सौ. श्रीमती इन्दु शर्मा
एम.ए., शिक्षाचार्या

अंग्रेजी-रूपान्तरण-कर्त्ता
महामण्डलेश्वर स्वामी श्री ज्ञानेश्वरपुरी
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

(गताङ्कादग्रे) **संस्कृत-हिन्द्याङ्ग्ल -वाचि , रूपान्तर-सहितः सुलभोऽयं सर्वदा ।**
दर्श दर्शमेतं तु , विस्मिता वरीवृतति विपश्चितश्चापि ।।91।।

यह राष्ट्रवेद संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी रूपान्तर के सहित सदा सुलभ है। इसको देख-देख कर तो विद्वान भी बहुत बहुत विस्मित हैं।

Written in Sanskrit with Hindi and English translations this Rashtra Veda is easily understandable. Seeing it, many scholars were astonished.

पुनरस्मत् प्रार्थनया, राष्ट्रस्मृतिं तथैव राष्ट्रपुराणं च।
व्यरचयद् भवानपीह, सर्वेषामपि राष्ट्रवासिनां कृते हि।।92।।

फिर हमारी प्रार्थना से आपने भी यहाँ सभी राष्ट्रवासियों के लिए एक राष्ट्रस्मृति और एक राष्ट्रपुराण की रचना कर दी।

Then you/he, as a response to my prayers and for (the benefit of) the citizens wrote Rashtra Smriti and Rashtra Purana.

राष्ट्रस्मृति- निमित्तं तु, महामहिम-राष्टपति-महानुभावोऽपि।
प्रेषितवान् भवते स्वाः, शुभाशीष ए.पी.जे. अब्दुलकलामः।।93।।

राष्ट्रस्मृति के निमित्त तो महामहिम राष्टपति श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम महानुभाव ने भी अपनी शुभाशिषें आपको प्रेषित की हैं ।

His Excellency President of India, A.P.J. Abdul Kalam awarded you for the Rashtra Smriti.

भवदीय-लेखन्यां तु, विराजते श्रीशारदाम्बा दयालुः ।
सम्प्रति राष्ट्रोपनिषद,-मपीह रचयतु सर्वथाऽभूतपूर्वम् ।।94।।

आपकी लेखनी में तो दयालु श्री शारदाम्बा विराजती है। अब आप एक सर्वथा अभूतपूर्व राष्ट्रोपनिषद् की रचना कर दीजिए।

Merciful mother Sharada (Saraswati) lives in your pen. Now, please, create never seen, Rashtra Upanishad. |94|

राष्ट्रवेद-राष्ट्रस्मृति, -राष्ट्रपुराण- राष्ट्रोपनिषद्- ग्रन्थास्तु।
अवश्यं ह्युपयोगिनः , सेत्स्यन्ति राष्ट्रवासिभ्यः सर्वदा।।95।।

राष्ट्रवेद, राष्ट्रस्मृति, राष्ट्रपुराण और राष्ट्रोपनिषद् ये सभी ग्रन्थ तो राष्ट्रवासियों के लिये सदा अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होंगे।

Rashtra Veda, Rashtra Smriti, Rashtra Purana and Rashtra Upanishad, all of the scriptures, will always be useful to the citizens. |95|

गुरुदेव ! निराशान् मा, करोत्वस्मानेतस्मिन् वारेऽपि ।
राष्ट्रचरित्र - क्षरणं, भवत्ववरुद्धमितीच्छामः ।।96।।

हे गुरुदेव ! इस बार भी आप हमको निराश मत करना । राष्ट्र के चरित्र का क्षरण होना बन्द हो जाय, हम तो यही चाहते हैं ।

Oh Gurudev, don't disappoint us. We want that the decay/degradation of the character in the Nation stops.

जगद्गुरु- गौरवं स्वं, राष्ट्रमिदमस्मदीयमासादयतु ।
वयं त्विदमेव नित्यं, विशुद्ध-चेतसाऽभिकामयामहे।।97।।

यह हमारा राष्ट्र अपने जगद्गुरु होने के गौरव को प्राप्त कर ले । हम तो विशुद्ध चित्त से यही अभिकामना करते हैं।

Let our country become the guru of the world. We wish this with a pure heart.

(क्रमशः)

ISSN : 2582-6360

विविध साहित्यिक गतिविधियाँ

प्रकाशक : विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान - कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org